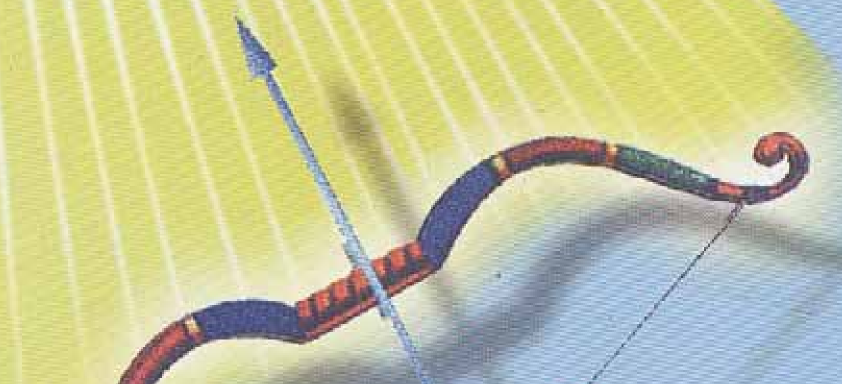
कृपा और पुरुषार्थ



युग तुलसी परमपूज्य पाद श्री रामकिंकर जी महाराज

सर्वाधिकार सुरक्षित
रामायणम् ट्रस्ट
युग तुलसी पं. रामकिंकर उपाध्याय परिक्रमा मार्ग, जानकी घाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३ e--mail - Sadgurudev9 @ gmail.com
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

द्वितीय संस्करण - श्री गुरुपूर्णिमा 2008, संवत : 2065

मूल्यः 70/-

मुद्रक : गोस्पेल प्रेस, लखनऊ (उ. प्र.)
फोन- 0522-4007705
e--mail - gospel_paperprint @ yahoo.co.in

अनुक्रम

।। श्री रामः शरणं मम।।

मेरे जीवन में कृपा

कृपा शब्द मेरे लिये केवल शब्द मात्र नहीं है। वह ऐसा महामंत्र है, जिसने मुझे धन्य बना दिया है और उसे बार-बार दुहराते हुए मुझे पुनरुक्ति का बोध ही नहीं होता है। कृपा के साथ मुझे एक शब्द जोड़ना अत्यन्त प्रिय है, जिसे प्रेममूर्ति भरत ने प्रभु के समक्ष कहा था-

नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहिं कृपानंद संदोह।।

कृपा की आवश्यकता किसे नहीं है? किन्तु सभी सिद्धान्तों में उसके साथ कुछ-न-कुछ जोड़ा ही जाता है। ज्ञानी को ज्ञान-दीप प्रज्वलित करने के लिये जो उपकरण चाहिये उसमें सर्वप्रथम श्रद्धा की आवश्यकता है और वह श्रद्धा की गाय प्रभु की कृपा से ही प्राप्त होती है -

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।
जौ हरि कृपा हृदय बस आई।।

पर गाय मिल जाने पर भी उसे सत्कर्म का चारा तो चाहिये ही और यह ज्ञान के साधक को पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित करना है।

कर्म-सिद्धान्त में मनुष्य शरीर की प्राप्ति को भगवत् कृपा के रूप में ही स्वीकार किया गया है -

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत हेतु बिनु हेतु सनेही।।

भले ही यह मानव शरीर कृपा से प्राप्त हुआ हो, किन्तु साधन करना ही उसका मूल लक्ष्य है।

'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' भक्ति सिद्धान्त में कृपा को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। किन्तु वहाँ भी साधना की आवश्यकता का प्रतिपादन तो किया ही गया है और वह भी स्वयं प्रभु के श्रीमुख से -

भगति कै साधन कहऊँ बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावइ प्रानी।।

इसलिये इन तीनों सिद्धान्तों में कृपा के साथ केवल शब्द जोड़ना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है। ऐसी स्थिति में **कृपा** और **पुरुषार्थ** शब्द स्वयं इसी सत्य की ओर इंगित करता है और जब कृपा और पुरुषार्थ पर प्रवचन किया जा रहा हो तब 'केवल कृपा' शब्द वहाँ अनुपयुक्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में श्री भरतजी महाराज के 'केवल कृपा' शब्द को क्यों इतना अधिक महत्व दे रहा हूँ?

यह बड़ी विचित्र-सी बात होगी कि एक ओर तो मैं कृपा के साथ पुरुषार्थ शब्द को अनिवार्य बता रहा हूँ। तब भला **'केवल'** शब्द के मेरे इस आग्रह के पीछे एक विशेष कारण है। उसे एक दृष्टान्त के रूप में ही देना चाहूँगा कि मनुष्य के शरीर के साथ जिन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, उसमें किशोर, युवा, वृद्ध से कुछ-न-कुछ आशा तो की ही जाती है। किन्तु एक अवस्था ऐसी है जहाँ पर उससे कोई आशा नहीं रखी जाती। वह है 'शिशु अवस्था'।

अतः यों कह सकते हैं कि माता-पिता की आवश्यकता सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहती है, किन्तु बालक के लिये तो 'केवल' शब्द का ही प्रयोग किया जा सकता है। उसे तो 'केवल' माँ की कृपा ही प्राप्त होती है। वह उस समय की सारी क्रियाओं के लिये माँ पर आश्रित है। इस अर्थ में अपने आपको एक ऐसे शिशु के रूप में देखता हूँ जिसके जीवन में केवल प्रभु की कृपा ही सब कुछ है। किन्तु व्यासासन पर बैठकर जो व्याख्या की जाती है, वहाँ पर 'केवल' शब्द सार्थक सिद्ध नहीं होगा क्योंकि तब उपदेश की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। उपदेश तो कुछ करने की प्रेरणा देने के लिये ही दिया जाता है। इसलिये इस पुरुषार्थ और कृपा के सामंजस्य की बात करना ही युक्तियुक्त है। कृपालु प्रभु ने अपनी कृपा से जिस व्यासासन पर मुझे आसीन किया है, उसमें वही अनिवार्य है जो प्रवचनों में कहा गया है।

ग्रन्थ छपने से पहले जो मुझे प्रतीक चिह्न मिला उसमें धनुष बना हुआ था। मैंने उसमें बाण जोड़ने की आवश्यकता समझी शायद यह धनुष और बाण मेरे लिये 'कृपा और पुरुषार्थ' का सबसे श्रेष्ठ प्रतीक है। धनुष **कृपा** है और बाण **पुरुषार्थ**। बाण सक्रिय दिखायी

देता है। लक्ष्य-भेद भी उसी के द्वारा किया जाता है। इसी में बाण की सार्थकता है। पुरुषार्थ का उद्देश्य भी तो जीवन के लक्ष्य को पूरा करना है और बाण स्वयं अपनी क्षमता से गतिशील नहीं हो सकता उसे तो चलानेवाला योद्धा जिस दिशा में भेजना चाहता है उसी दिशा में प्रेरित कर देता है और पुरुषार्थ के पीछे वह कृपा ही तो है जो व्यक्ति के जीवन में सक्रियता के रूप में दिखायी देती है। इसलिये कृपा का धनुष और पुरुषार्थ के बाण को ही मैंने प्रतीक चिह्न के रूप में चुना।

श्री हनुमान्‌जी की लंका-यात्रा को गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी रूप में देखा। उन्होंने श्री हनुमान्‌जी की तुलना श्रीराम के बाण से की-

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।
एही भाँति चलेउ हनुमाना।।

सब कुछ हनुमान्‌जी ही करते हुए प्रतीत हो रहे हैं। इसीलिये जब प्रभु ने उनसे प्रश्न किया कि तुमने लंका जलाने जैसा कठिन कार्य कैसे सम्पन्न किया। तब श्री हनुमान्‌जी ने प्रभु के प्रताप की महिमा की ओर ही संकेत किया -

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।

स्वयं गोस्वामी तुलसीदास की विनय-पत्रिका में अनगिनत बार कृपा शब्द का उपयोग किया गया है।

- रामकिंकर

।। श्री रामः शरणं मम।।

अनुवचन

परम पूज्य महाराजश्री के द्वारा लिखित पूर्वलेख "मेरे जीवन में कृपा" का प्रत्यक्ष प्रमाण यदि देखना हो तो वह मेरा जीवन है! परम पूज्य महाराजश्री तो **अवतार पुरुष** हैं। ऐसी चेतनाएँ शरीर ग्रहण कर संसार में आती और जाती प्रतीत होती हैं, क्योंकि हम सभी देहधारी, इन्द्रियों को ही प्रमाण मानते हैं।

परम पूज्य सद्गुरुदेव के सेवाश्रय में आने के बाद एक ही मानवीय चिंता मेरी बालबुद्धि को सताती रहती थी और जब-जब मैं बालसुलभ परम पूज्य महाराजश्री के समक्ष ये रखती थी - **"आप मुझे इस संसार में अकेला तो कभी नहीं छोड़ेंगे?"** उसका उत्तर वाणी में, लेखन में, गद्य और पद्य में भगवान् को साक्षी रखकर प्रत्येक रूप में परम पूज्य महाराजश्री ने सकारात्मक ही दिया कि- **"मैं निरन्तर तुम्हारे पास ही रहूँगा।"** उस समय उन वचनों का अर्थ मेरे लिये कुछ और था, आज उन ब्रह्मवाक्यों की व्याख्या भिन्न रूप में समझ आ रही है। परम पूज्य महाराजश्री की सगुण लीला संवरण की अवधि भले ही पाँच साल हो पर मुझे लगता है कि इतना कुछ घटित हो गया, संसार का, लोगों का जो रूप देखने को मिला वह अप्रत्यासित और सर्वथा कल्पनातीत है।

परम पूज्य महाराजश्री की कृपा की अनुभूति आज जितनी गहराई से होती है-

जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई।।

पहले तो दुलार, प्यार और छोह रूपी कृपा में ही जीवन सम्पुटित था। अब धैर्य, विवेक, शक्ति और बोध रूप में परम पूज्य महाराजश्री अपनी कृपापूर्ण उपस्थिति की अनुभूति निरंतर करवा रहे हैं।

परम पूज्य महाराजश्री ने अपने पूर्वालेख में 'धनुष' को 'कृपा' के

रूप में व्याख्यायित किया है और 'बाण' को **"पुरुषार्थ"**। भारतीय ज्योतिष के अनुकूल परम पूज्य महाराजश्री की जन्मकुण्डली की राशि 'धनु' है, अर्थात् **'कृपा' राशि में ही परम पूज्य महाराजश्री प्रकट हुए**। "मंदाकिनी" का नामकरण किस राशि में परम पूज्य महाराजश्री ने किया वह मैं नहीं जानती, पर आंजनेय श्रीहनुमान्जी की तरह यदि मैं उनका बाण बनकर परम पूज्य महाराजश्री के अधूरे लक्ष्य का भेदन कर सकूँ, तब तो मेरे जीवन की सार्थकता है।

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।

पुरुषार्थ की क्षमता प्राप्त करने के लिये भी तो कृपा की याचना करनी पड़ेगी, क्योंकि -

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला।।

नन्हा शिशु सारी क्रियाओं के लिये अपनी माँ पर आश्रित होता है। गोस्वामीजी के शब्दों में-

मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी।
चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी।।
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।।

मुझे तो लगता है कि 'कृपा' और 'पुरुषार्थ' साधक के जीवन में अठखेलियाँ करते रहते हैं, मानो हमारे आराध्य प्रभु अपने भक्तों के साथ आँख-मिचौनी के खेल का आनंद ले रहे हैं।

रामायणम् ट्रस्ट भी पुरुषार्थ करता हुआ प्रतीत हो रहा है, पर सत्य यह है कि परम पूज्य महाराजश्री के कृपाश्रित हम सभी पात्र यही अनुभव करते हैं कि-

सघन अमा मे जाको सुघर सनेह दीप,
दूरि अँधियारी करि सुषमा भरति है।
घोर भव घाम ते श्रमित को समीप आये,
जाकी कृपा कौमुदी सुसीतल करति है।

प्रकाशन यज्ञ में अनेकानेक महानुभावों की आहुति पड़ी है। समर्पित साहित्यकार, पत्रकार, भक्तहृदय डा. सत्यनारायण प्रसाद

का मार्गदर्शन हमें पग-पग पर प्राप्त होता रहता है। परम पूज्य महाराजश्री को जितनी गहराई से उन्होंने समझा है, उनकी समर्पित साधना अनुकरणीय है।

वैकुण्ठवासी श्री विजयकुमार जजोदिया के धर्मपरायण पुत्र द्वय श्री हरीश एवं सौ. निर्मलाजी, श्री श्रवण एवं सौ. विभाजी ने इस ग्रन्थ की आर्थिक सेवा करके अपने पूज्य माता पिता के द्वारा डाली गयी पुनीत परम्परा को कायम रखा है। परम पूज्य महाराजश्री से जाजोदिया दम्पति का बड़ा स्नेहपूर्ण संबंध था। परम पूज्य महाराजश्री का वात्सल्य और स्नेह, जाजोदिया परिवार के सभी सदस्यों को प्राप्त हो और अपनी अहैतुकी कृपा की वर्षा करते रहें। यही परम पूज्य गुरुदेव के चरणों में प्रार्थना।

श्रीरामायणम् आश्रम के सेवक वृन्द जैसा सहयोग प्रदान कर रहे हैं वह स्तुत्य है। परम पूज्य महाराजश्री का सुभाशीष इन सभी महानुभावों को प्राप्त हो। साथ में उन सभी सुधी पाठकवृन्द जो परोक्ष में रहकर इस कार्य के संवर्धन में तन, मन, धन से सेवारत है।

'कृपा और पुरुषार्थ' परम पूज्य महाराजश्री की अनेक लोकप्रिय ग्रन्थों में से एक है। उसकी बढ़ती हुई माँग को दृष्टिगत रखकर पाठकों के लिये यह नया संस्करण परम पूज्य महाराजश्री के चरणों में समर्पित है-

त्वदीयं वस्तु सद्गुरुदेव
तुभ्यमेव समर्पयेत।

सदैव श्री सद्गुरु चरणाश्रित
मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

॥श्री रामः शरणं मम॥



रामानुजदासी श्रीमती सीता देवी जाजोदिया तथा
रामानुजदास श्री विजय कुमारजी जाजोदिया

।। श्री रामः शरणं मम।।

सविनय

कृपा और पुरुषार्थ जीवन की वास्तविकता का प्रतीक है। **युग तुलसी परम पूज्य श्री रामकिंकर जी महराज** द्वारा रचित इस अमृत-सागर को प्रकाशित करने का सौभाग्य एवं पुरुषार्थ हमें मिला। यह ईश्वर की असीम कृपा है।

निःसंदेह यह हमारे पूर्वज, पितर एवं वैकुण्ठवासी माता-पिता की महती अनुकम्पा है कि उन्होंने हमारे जीवन को जो दिशा दी, आज उसी धर्म-मार्ग पर हम चल पा रहे हैं। **'युग तुलसी परम पूज्य महाराज श्री रामकिंकरजी'** से पूज्य माँ रामानुजदासी श्रीमती सीता देवी जाजोदिया तथा पूज्य बाबूजी रामानुजदास श्री विजय कुमारजी का बहुत ही घनिष्ठ और गहरा सम्बन्ध था। जब भी परम पूज्य महाराजश्री मुंबई पधारते, हमारे घर में उनका निमंत्रण, प्रसाद सुनिश्चित था। परम पूज्य महाराजश्री का ऐसा व्यक्तित्व था कि उनकी सन्निधि में व्यक्ति के अंतःकरण में शरणागत होने का भाव स्वयं स्फूर्त होता था। समस्त परिवार के सदस्य हम सभी बच्चों को दंडवत प्रणाम करके आशीर्वाद लेने का नियम पूज्य बाबूजी ने बना दिया था। आज भी उनका वही स्नेहाशीष हमें प्राप्त है।

हमारे पूज्य माँ-बाबूजी, हमारे जन्मदाता, अपने जीवन के अल्पकाल में भी मानव कल्याण के लिये इतना कुछ कर गये और हम बच्चों को अच्छे संस्कारों की अथाह पूँजी दे गये, यह सब भगवद् कृपा ही है। बिना किसी पुरुषार्थ के वे अपनी कृपा की वृष्टि हम पर कर रहे हैं और यह सदैव ही सम्पूर्ण परिवार पर बनी रहे, यही उनके चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

इस प्रकाशन को हम अपने पूज्य माँ-पापा को समर्पित करते हैं। यह प्रकाशन जन-जन में ज्ञान का प्रकाश फैलायेगा यह हमारा विश्वास है।

हम पूज्य दीदी माँ मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी के हृदय से आभारी हैं जो परम पूज्य महाराजश्री के पदचिह्नों पर चलकर इस अमृतमय चिन्तन को जन-जन तक पहुँचाने में प्रयासरत हैं और हमें यह सेवा करने का अवसर दिया।

- निर्मला/हरीश जाजोदिया

विभा/श्रवण कुमार जाजोदिया

।। श्री रामः शरणं मम ।।

PADMA BHUSHAN
MAHARAJSHREE DR. RAMKINKERJI
An Emblem of Shree Ramcharit Manas

- MANDAKINI SHRIRAMKINKER

Noble souls come once in a millenium & when they depart their mortal bodies, they leave behind a rich legacy of their works & memoirs which serve multitude of generations to come! Saint poet Tulsidasa was one such super luminary, worlds immortal poet, a star in the firmament of medieval Indian poetry, the composer of the literary masterpiece ``Shri Ramcharitmanas" a lyrical epic which is the epitome of our eternal religion & culture.

``Shri Ramcharit Manas" is an album of human life in all its phases & perspectives & in this respect Tulsidas has surpassed the greatest English dramatist Shakespeare *a virtual fact which many may find difficult to digest, I feign to compare) but Shakespeare who has depicted varieties of human character in his thirty seven plays, Goswami Tulsidasji has painted them all, in one single book, an impossible task which has no parallel in world literature! He has given candid expression to all kinds of emotions, desires & thoughts which generate in a human mind, leaving no sphere of human life untouched, a remarkable feat unprecedented in literary world.

Inorder to apprehend the beauty, profundity & depth of Shri Ramcharit Manas, one requires an insight, one needs to wear the lens of the poets' perceptive envision. Just as it is not possible to visualize, microscopic as well as extremely distant objects by our limited sense of perception - without the aid of a microscope or a telescope, identically it is inconceivable to appreciate the poetical genius of Tulsi's lyric, without imbibing the **visionary lens of philosophy** of the universally recognised prescient seer His Holiness Maharajshree Ramkinkerji!

Pujya Maharajshree believes that Shri Ramcharitmanas is not just a poem, to be read like we relish

Milton & Shelley, but an epic song, which has to be savoured aesthetically. Being the greatest, versatile, consummate, critic & appraiser of Tulsidas's work in the last five centuries (undisputedly accepted by all expounders of Manas with unanimity), he has made a declaration & authenticated it in his expositions that ``Like the Vedas, Puranas & Smritis, Shri Ramcharitmanas is a fountainhead of pure, effulgent knowledge, a treatise of philosophy, theosophy, psychology besides being a great reservoir of myth, folk wisdom & devotional expression on which people can constantly draw for all ages to come."

An erudite scholar, a prolific writer, an integrated poet & an unequivocal orator of International renown, His Holiness Maharajshree has carved a distinct dignified identification for himself as the - **``Living Embodiment of the sublime culture of ``Shri Ramcharitmanas".** His contention is that Shri Ramcharti Manas is not merely sacrosanct history, a picture of the past, a marvellous painting on the canvas of life, but it is a **``Mirror for the world"** which reflects the present, Therefore, unlike a painting, it shall never become old & outdated, but shall always remain contemporary to the onlooker whose picture it will reflect for all ages to come!

This perception of His Holiness Maharajshree of ``Manas as a mirror" can only be compared to that of the Greek Philosopher Plato in the long history of western thought, who once wrote that ``Holy Scripture is a mirror. In it one sees the picture one should reproduce, As one reads one can compare oneself with what one is & what one ought to be".

Maharajshree holds that the reflexivity of the scripture is a clue to the dynamic & living nature of Manas, one that presents a different picture to each onlooker, who gazes into it, to each interpreter & to each age. As a painting it would be a static fossilized thing restricted to the stands of museums or libraries of antedated antique value.

Manas therefore has become a ``point of view" a way of looking at life & the world- a **``Darshan shastra"** the sanskrit term we commonly render as ``philosophy". Thru its lens the

world is recreated. Therefore Maharajshree firmly belives that Manas is a means of reflection contemplation & introspection & a very good medium of critical self - assessment & he justifies with logical agreements & examples from the manas that the one who makes use of this mirror becomes Dashrath (father of Divine manifestation of supreme - Lord Ram & gains gratification) and one who does not use the mirror he is innately provided with, becomes Dashmukh (Ravana the villain character opposed to Divinity). Thus he not only authenticates his doctrines is conformance with scriptural principles, but his interpretations themselves have acquired a sort of canonical status, for practically all religious preachers, professionals & kathavachaks who cite his verses as authoritative proof or validation (प्रमाण), of any point they wish to make, his doctriness serving as guiding reference lines for sekers.

Maharajshree claims that every word of Shri Ramcharit Manas is a ``**Mantra**"- a spiritually efficacious word, charged with power & therefore it is a living manifestation of eternal wisdom, which conveys deep, hidden concealed messages which need to be unfolded to be assimilated by the human intellect - Therefore it calls for elaboration, explanation & commentary. A mere retelling or a straightforward narration will not give us insights into this encyclopaedia of wisdom. Though it is not difficult from the linguistic point of view, being dense & allegorical, full of references to the puranas etc. this encyclopaedia of wisdom needs interpretation.

Symbolic Interpretation of the Manas is an innovative technique, which P. Pujya Maharajshree masters in & this commanding techique is very scientific - He moves away from the literal interpretation of the story & re-interprets the events & principles to make them relevant to archetypal & contemporary human situations & the ease with which, without any prior preparation, he interprets this metaphorical poetic marvel, within the realms of words, the readiness with which the verses & phrases come to his lips & the concealed mysteries of the obscure passages get illuminated before

his ethical eye - it renders the beholder speechless, gaping & stupefied! How else could it have been possible if he was not a ``**Realised Master**" who has touched the summits of rendition a (मंत्रद्रष्टा ऋषि) a (मानस द्रष्टा मुनि) who is a witness to all what he describes! Something that is most surprising is that to understand his analytical philosophy & innate psychology, one does not necessarily need to be a rigid theistic devotee, a God-fearing or God-loving believer. Whether he is an atheist or a compulsive theist, if he has a healthy, judicious, prudent intellect, a genuine, curiosity & quest for the ultimate truth (being the only condition) I am sure he will be automatically drawn into the fourth dimension of Divine Grace, the internal strifes & sorrows which he is experiencing in his mind, the clashing conflicts & restlessness that he is riddled with, shall get gradually resolved, once he is exposed to the enlightening discourses of His Holiness Maharajshree & the perils of his conscience, the torturing corrupting woeful traits will automatically sublimate & cherished peace & serenity will settle!

And may I clarify, that this amazing state is not achieved by a process of mesmerization or by imaginary flights into a utopian world of fantasy (scathing attacks made by critics towards devotional sentiment) Maharajshree's ideology is not marred by superstituions limitations, orthodoxy or blind belief - albeit like an adept physician, he offers an extraordinary potion of bountiful practical potent solutions which adhere to scriptural decorum & at the same time nurture the tender emotions of the heart, with love & enduring devotion! Though he does not resort to music, orchestra or any easy popular means normally used to attract the masses, his increasing - universal popularity both among the masses & the classes, speak volumes in way of appreciation of his clàssical philosophy; the new dimension to the Ramayan tradition which he has consciously introduced; a standard he has set & a height that he has reached which no subsequent expounder has been able to surpass or shall ever be able to

in future (could be a debatable question). It is for these reasons he has definite claims to be considered among the "**greatest philosopher of all times** & countries, a literary genius, his literary merits shall give him this status if not today then the dawn of the morrow shall declare him as the "**philosophical prodigy of the 20th century**".

Inspite of all his glittering literary merits, the uncountable feathers in his cap, achievements, recognitions, laurels with no single peer among galaxy of literates, not even for a flip of a second, even in his unconscious, does he take the credit for pioneering a renaissance movement in reflective psychosis and spirituality.

"**Ramcharitmanas is the breath of my life**", he confesses! "Knowledge is eternal", a keyword & essence of our evolved culture - For your admiration I am gratified, but I am only instrumental, every individual is finite! Where there is beauty, there is light"? Such are the frank admissions of this modest messiah & master to many!

Param Pujya Maharajshree has penned more than 100 books, few of which have been translated into other languages- like Marathi, Gujarati, Oriya. I would humbly plead with all our readers to drink from this "Amaranthine ocean of knowledge", share this infinite, life-giving nectar with your friends & foes & contribute to a peaceful, happier world which we shall leave as a legacy for coming generations to dwell!

I am sure that you will be a recepient of the benign incessant grace of the Divine Lord Shree Ram for this thoughtful deed of merrit.

May the Lord Bless.
Jai Siyaram!

***

महाराजश्री : एक परिचय

प्रभु की कृपा और प्रभु की वाणी का यदि कोई सार्थक पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ा जाए, तो वह हैं–प्रज्ञापुरुष, भक्तितत्त्व द्रष्टा, सन्त प्रवर, 'परमपूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी उपाध्याय।' अपनी अमृतमयी, धीर, गम्भीर-वाणी-माधुर्य द्वारा भक्ति रसाभिलाषी-चातकों को, जनसाधारण एवं बुद्धिजीवियों को, नानापुराण निगमागम षट्शास्त्र वेदों का दिव्य रसपान कराकर रससिक्त करते हुए, प्रतिपल निज व्यक्तित्व व चरित्र में श्रीरामचरितमानस के ब्रह्म राम की कृपामयी विभूति एवं दिव्यलीला का भावात्मक साक्षात्कार करानेवाले पूज्य महाराज श्री आधुनिक युग के परम तेजस्वी मनीषी, मानस के अद्भुत शिल्पकार, रामकथा के अद्वितीय अधिकारी व्याख्याकार हैं।

भक्त-हृदय, रामानुरागी पूज्य महाराजश्री ने अपने अनवरत अध्यवसाय से श्रीरामचरितमानस की मर्मस्पर्शी भावभागीरथी बहाकर अखिल विश्व को अनुप्राणित कर दिया है। आपने शास्त्रदर्शन, मानस के अध्ययन के लिये जो नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की है, वह इस युग की एक दुर्लभ अद्वितीय उपलब्धि है–

धेनवः सन्तु पन्थानः दोग्धा हुलसिनन्दनः।
दिव्यराम-कथा दुग्धं प्रस्तोता रामकिंकरः॥

जैसे पूज्य महाराजश्री का अनूठा भाव दर्शन वैसे ही उनका जीवन दर्शन अपने आप में एक सम्पूर्ण काव्य है। आपके नामकरण में ही जैसे श्री हनुमान्जी की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। वैसे ही आपके जन्म की गाथा में ईश्वर कारण प्रकट होता है। आपका जन्म १ नवम्बर सन् १९२४ को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पूर्वज मिर्जापुर के

बरैनी नामक गाँव के निवासी थे। आपकी माता परम भक्तिमती श्री धनेसरा देवी एवं पिता पूज्य पं. शिवनायक उपाध्यायजी रामायण के सुविज्ञ व्याख्याकार एवं श्रीहनुमानुजी महाराज के परम भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि श्रीहनुमानुजी के प्रति उनके पूर्ण समर्पण एवं अविचल भक्तिभाव के कारण उनकी बढ़ती अवस्था में श्रीहनुमत्‌जयन्ती के ठीक सातवें दिन उन्हें एक विलक्षण प्रतिभायुक्त पुत्ररत्न की प्राप्ति दैवी कृपा से हुई। इसलिए उनका नाम **'रामकिंकर'** अथवा **राम का सेवक** रखा गया।

जन्म से ही होनहार व प्रखर बुद्धि के आप स्वामी रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जबलपुर व काशी में हुई। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोची एवं शान्त प्रकृति के बालक रामकिंकर अपनी अवस्था के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक गम्भीर थे। एकान्तप्रिय, चिन्तनरत, विलक्षण प्रतिभावाले सरल बालक अपनी शाला में अध्यापकों के भी अत्यन्त प्रिय पात्र थे। बाल्यावस्था से ही आपकी मेधाशक्ति इतनी विकसित थी कि क्लिष्ट एवं गम्भीर लेखन, देश-विदेश का विशद साहित्य अल्पकालीन अध्ययन में ही आपके स्मृति पटल पर अमिट रूप से अंकित हो जाता था। प्रारम्भ से ही पृष्ठभूमि के रूप में माता-पिता के धार्मिक विचार एवं संस्कारों का प्रभाव आप पर पड़ा। परन्तु परम्परानुसार पिता के अनुगामी वक्ता बनने का न तो कोई संकल्प था, न कोई अभिरुचि।

कालान्तर में विद्यार्थी जीवन में पूज्य महाराजश्री के साथ एक ऐसी चामत्कारिक घटना हुई कि जिसके फलस्वरूप आपके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। १८ वर्ष की अल्प अवस्था में जब पूज्य महाराजश्री अध्ययनरत थे, तब अपने कुलदेवता श्री हनुमान्‌जी महाराज का आपको अलौकिक स्वप्नदर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने आपको वटवृक्ष के नीचे शुभासीन करके दिव्य तिलक कर आशीर्वाद देकर कथा सुनाने का आदेश दिया। स्थूल रूप में इस समय आप बिलासपुर में अपने पूज्य पिता के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे। वहाँ पिताश्री की कथा चल रही थी। ईश्वरीय संकल्पानुसार परिस्थिति भी अचानक कुछ ऐसी बन गई कि अनायास ही, पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से भी पिताजी के स्थान पर कथा कहने का प्रस्ताव एकाएक निकल गया।

आपके द्वारा श्रोता समाज के सम्मुख यह प्रथम भाव प्रस्तुति थी।

किन्तु कथन शैली व वैचारिक शृंखला कुछ ऐसी मनोहर बनी कि श्रोतासमाज विमुग्ध होकर, तन-मन व सुध-बुध खोकर उसमें अनायास ही बँध गया। आप तो रामरस की भावमाधुरी की बानगी बनाकर, वाणी का जादू कर मौन थे, किन्तु श्रोता समाज आनन्दमग्न होने पर भी अतृप्त था। इस प्रकार प्रथम प्रवचन से ही मानस प्रेमियों के अन्तर में गहरे पैठकर आपने अभिन्नता स्थापित कर ली।

ऐसा भी कहा जाता है कि २० वर्ष की अल्प अवस्था में आपने एक और स्वप्न देखा, जिसकी प्रेरणा से गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के प्रचार एवं उनकी खोजपूर्ण व्याख्या में ही अपना समस्त जीवन समर्पित कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। यह बात अकाट्य है कि प्रभु की प्रेरणा और संकल्प से जिस कार्य का शुभारम्भ होता है, वह मानवीय स्तर से कुछ अलग ही गति-प्रगति वाला होता है। शैली की नवीनता व चिन्तनप्रधान विचारधारा के फलस्वरूप आप शीघ्र ही विशिष्टतः आध्यात्मिक जगत् में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए।

ज्ञान-विज्ञान पथ में पूज्यपाद महाराजश्री की जितनी गहरी पैठ थी, उतना ही प्रबल पक्ष, भक्ति साधना का, उनके जीवन में दर्शित होता है। वैसे तो अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने अपने जीवन की दिव्य अनुभूतियों का रहस्योद्‌घाटन अपने श्रीमुख से बहुत आग्रह के बावजूद नहीं किया। पर कहीं-कहीं उनके जीवन के इस पक्ष की पुष्टि दूसरों के द्वारा जहाँ-तहाँ प्राप्त होती रही। उसी क्रम में उत्तराखण्ड की दिव्य भूमि ऋषिकेश में श्रीहनुमानुजी महाराज का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, निष्काम भाव से किए गए, एक छोटे से अनुष्ठान के फलस्वरूप हुआ!! वैसे ही श्री चित्रकूट धाम की दिव्य भूमि में अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ परम पूज्य महाराजश्री के साथ घटित हुईं। जिनका वर्णन महाराजश्री के निकटस्थ भक्तों के द्वारा सुनने को मिला!! परमपूज्य महाराजश्री अपने स्वभाव के अनुकूल ही इस विषय में सदैव मौन रहे।

प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाभूमि वृन्दावन धाम के परमपूज्य महाराजश्री, ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज के आदेश पर आप वहाँ कथा सुनाने गए। वहाँ एक सप्ताह तक रहने का संकल्प था। पर यहाँ के भक्त एवं साधु-सन्त समाज में आप इतने लोकप्रिय

हुए कि उस तीर्थधाम ने आपको ग्यारह माह तक रोक लिया। उन्हीं दिनों में आपको वहाँ के महान् सन्त अवधूत श्रीउड़िया बाबाजी महाराज, भक्त शिरोमणि श्रीहरिबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज को भी कथा सुनाने का सौभाग्य मिला। कहा जाता है कि अवधूत पूज्य श्रीउड़िया बाबा, इस होनहार बालक के श्रीमुख से निःसृत, विस्मित कर देने वाली वाणी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह मानते थे कि यह किसी पुरुषार्थ या प्रतिभा का परिणाम न होकर के शुद्ध भगत्वकृपा का प्रसाद है। उनके शब्दों में **"क्या तुम समझते हो, कि यह बालक बोल रहा है? इसके माध्यम से तो साक्षात् ईश्वरीय वाणी का अवतरण हुआ है।"**

इसी बीच अवधूत श्रीउड़िया बाबा से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प आपके हृदय में उदित हुआ और परमपूज्य बाबा के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करने पर बाबा के द्वारा लोक एवं समाज के कल्याण हेतु शुद्ध संन्यास वृत्ति से जनमानस सेवा की आज्ञा मिली।

सन्त आदेशानुसार एवं ईश्वरीय संकल्पानुसार मानस प्रचार-प्रसार की सेवा दिन-प्रतिदिन चारों दिशाओं में व्यापक होती गई। उसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क हुआ। काशी में प्रवचन चल रहा था। उस गोष्ठी में एक दिन भारतीय पुरातत्त्व और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं चिन्तक श्री वासुदेव शरण अग्रवाल आपकी कथा सुनने के लिये आए और आपकी विलक्षण एवं नवीन चिन्तन शैली से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री वेणीशंकर झा एवं रजिस्ट्रार श्री शिवनन्दनजी दर से Prodigious (विलक्षण प्रतिभायुक्त) प्रवक्ता के प्रवचन का आयोजन विश्वविद्यालय प्रांगण में रखने का आग्रह किया। आपकी विद्वत्ता इन विद्वानों के मनोमस्तिष्क को ऐसे उद्वेलित कर गई कि आपको अगले वर्ष से 'विजिटिंग प्रोफेसर' के नाते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया गया। इसी प्रकार काशी में आपका अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैसे श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री महादेवी वर्मा से साक्षात्कार एवं शीर्षस्थ सन्तप्रवर का सान्निध्य भी प्राप्त हुआ।

पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा

उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका उद्देश्य है भारतीय जीवन पद्धति की समग्र खोज अर्थात् भारतीय मानस का साक्षात्कार। उन्होंने अपने विवेक प्रदीप्त मस्तिष्क से, विशाल परिकल्पना से श्रीरामचरितमानस के अन्तर्रहस्यों का उद्घाटन किया है। आपने जो अभूतपूर्व एवं अनूठी दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जो भक्ति-ज्ञान का विश्लेषण तथा समन्वय, शब्द ब्रह्म के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है, उस प्रकाश स्तम्भ के दिग्दर्शन में आज सारे इष्ट मार्ग आलोकित हो रहे हैं! आपके अनुपम शास्त्रीय पाण्डित्य द्वारा, न केवल आस्तिकों का ही ज्ञानवर्धन होता है अपितु नयी पीढ़ी के शंकालु युवकों में भी धर्म और कर्म का भाव संचित हो जाता है। **'कीरति भनिति भूति भलि सोई'**....के अनुरूप ही आपने ज्ञान की सुरसरि अपने उदार व्यक्तित्व से प्रबुद्ध और साधारण सभी प्रकार के लोगों में प्रवाहित करके **'बुध विश्राम'** के साथ-साथ **सकल जन रंजनी** बनाने में आप यज्ञरत हैं। मानस सागर में बिखरे हुए विभिन्न रत्नों को सँजोकर आपने अनेक आभूषण रूपी ग्रन्थों की सृष्टि की है। मानस-मन्थन, मानस-चिन्तन, मानस-दर्पण, मानस-मुक्तावली, मानस-चरितावली जैसी आपकी अनेकानेक अमृतमयी अमर कृतियाँ हैं जो दिगदिगन्तर तक प्रचलित रहेंगी। आज भी वह लाखों लोगों को रामकथा का अनुपम पीयूष वितरण कर रही हैं और भविष्य में भी अनुप्राणित एवं प्रेरित करती रहेंगी। तदुपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के भी आप अध्यक्ष रहे।

निष्कर्षतः आप अपने प्रवचन, लेखन और सम्प्रति शिष्य परम्परा द्वारा जिस रामकथा पीयूष का मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, वह जन-जन के तप्त एवं शुष्क मानस में नवशक्ति का सिंचन कर रही है, शान्ति प्रदान कर समाज में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना जाग्रत् कर रही है।

परमपूज्य महाराजश्री का स्वर उसी वंशी के समान है, जो 'स्वर सन्धान' कर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती है। वंशी में भगवान् का स्वर ही गूँजता है। उसका कोई अपना स्वर नहीं होता। परमपूज्य महाराजश्री भी एक ऐसी वंशी हैं, जिसमें भगवान् के स्वर का स्पन्दन होता है। साथ-साथ उनकी वाणी के तरकश से निकले, वे तीक्ष्ण विवेक के बाण

अज्ञान-मोह-जन्य पीड़ित जीवों की भ्रान्तियों, दुर्वृत्तियों एवं दोषों का संहार करते हैं। यों आप श्रद्धा और भक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करते हुए महान् लोक-कल्याणकारी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

रामायणम् ट्रस्ट परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकरजी द्वारा संस्थापित एक ऐसी संस्था है जो तुलसी साहित्य और उसके महत् उद्देश्यों को समर्पित है। मेरा मानना है कि परम पूज्य महाराजश्री की लेखनी से ही तुलसीदासजी को पढ़ा जा सकता है और उन्हीं की वाणी से उन्हें सुना भी जा सकता है। महाराजश्री के साहित्य और चिन्तन को समझे बिना तुलसीदासजी के हृदय को समझ पाना असम्भव है।

रामायणम् आश्रम अयोध्या जहाँ महाराजश्री ने ९ अगस्त सन् २००२ को समाधि ली वहाँ पर अनेकों मत-मतान्तरों वाले लोग जब साहित्य प्राप्त करने आते हैं तो महाराजश्री के प्रति वे ऐसी भावनाएँ उड़ेलते हैं कि मन होता है कि महाराजश्री को इन्हीं की दृष्टि से देखना चाहिए। वे अपना सबकुछ न्यौछावर करना चाहते हैं उनके चिन्तन पर। महाराजश्री के चिन्तन ने रामचरितमानस के पूरे घटनाक्रम को और प्रत्येक पात्र की मानसिकता को जिस तरह से प्रस्तुत किया है उसको पढ़कर आपको ऐसा लगेगा कि आप उस युग के एक नागरिक हैं और वे घटनाएँ आपके जीवन का सत्य हैं।

हम उन सभी श्रेष्ठ वक्ताओं के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं तो महाराजश्री के चिन्तन को पढ़कर प्रवचन करते हैं और मंच से उनका नाम बोलकर उनकी भावनात्मक आरती उतारकर अपने बड़प्पन का परिचय देते हैं।

रामायणम् ट्रस्ट के सभी ट्रस्टीगण इस भावना से ओत-प्रोत हैं कि ट्रस्ट की सबसे प्रमुख सेवा यही होनी चाहिए कि वह एक स्वस्थ चिन्तन के प्रचार-प्रसार में जनता को दिशा एवं दृष्टि दे और ऐसा सन्तुलित चिन्तन परम पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज में प्रकाशित होता और प्रकाशित करता दिखता है। सभी पाठकों के प्रति मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ!

प्रभु की शरण में
मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

प्रथम पुष्प

परम श्रद्धेय पूज्य श्री स्वरूपानन्दजी महाराज, उपस्थित समस्त सन्तो और ब्रह्मचारियो को मैं शत-शत नमन करता हूँ। आप सब जो यहाँ इस पावन आश्रम में एकत्र हुए हैं, भगवत् कथा-श्रवण के लिए, आपका स्वागत है। प्रभु की कृपा से अनेक वर्षों से यह सौभाग्य मिलता रहा है कि आपके समक्ष यहाँ आकर राम-कथा से जुड़े हुए जो सन्देश और सङ्केत हैं उन पर कुछ चर्चा करता रहा हूँ। परम श्रद्धेय स्वामीजी ने अभी जिस प्रश्न की ओर सङ्केत किया, वह प्रश्न और सच तो यह है कि उस प्रश्न का उन्होंने स्वरूप भी प्रस्तुत कर दिया। उसका समाधान भी उसमें छिपा हुआ है। पर उनका यह आदेश है इसलिए रामचरितमानस की कृपा और पुरुषार्थ पर क्या दृष्टि है, इस पर कुछ कहने की चेष्टा करूँगा। मुझे आशा है कि आप एकाग्रता और शान्ति से सुनेंगे। आप इतने वर्षों से मुझे सुनते रहे हैं इसलिए किसी तरह के मनोरञ्जन की आशा मुझसे नहीं करेंगे, पर आप पूरी तन्मयता से, जो बात कही जा रही है उसे सुनने का कष्ट करेंगे, कृपा करेंगे।

भगवान् श्रीराम ने रामचरितमानस में विविध प्रसङ्गों में अनेक उपदेश दिए हैं, पर उनमें भिन्नता है। उनमें कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनमें साम्य है, किन्तु कुछ में भिन्नता है। इसका तात्पर्य क्या है? इसका अभिप्राय यही है कि कोई भी उपदेश प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से उपयोगी नहीं होता। मानो प्रत्येक व्यक्ति जैसे देखने में रूप और आकृति में अलग-अलग हैं, बुद्धि और स्वभाव में अलग-अलग हैं, उसी तरह से यह स्वाभाविक है कि कोई उपदेश यदि सामने वाले के लिए उपयुक्त न हो तो वह चाहे कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो, उसके जीवन के लिए वह कल्याणकारी सिद्ध नहीं होगा। इस पर एक बड़े महत्त्व की बात, जिस पर आपकी दृष्टि गई होगी या जानी चाहिए कि भगवान् श्रीराम जब किसी विशिष्ट साधक के लिए उपदेश देते हैं

तो वह एक प्रसङ्ग है। जैसे उन्होंने लक्ष्मण के प्रश्न के उत्तर में लक्ष्मणजी को उपदेश दिया, शबरी के प्रसङ्ग में भगवान् श्रीराम ने शबरीजी को उपदेश दिया। हनुमान्‌जी के प्रसङ्ग मे प्रभु ने संक्षेप में हनुमानजी को उपदेश दिया। ये उपदेश व्यक्ति-विशेष को सामने रखकर दिए गए हैं। किन्तु 'मानस' में एक ऐसा उपदेश है जो व्यक्ति के सन्दर्भ में न होकर सारे समाज को सामने रखकर दिया गया है।

आप उत्तरकाण्ड में पढ़ते हैं कि जब प्रभु श्री राघवेन्द्र अयोध्या के सिंहासन पर समासीन होते हैं, वहाँ रामराज्य का बड़ा दिव्य और अनोखा वर्णन है। उस प्रसङ्ग में भगवान् श्री राघवेन्द्र अयोध्यावासियों को आमन्त्रित करते हैं। राजा यों तो आदेश देता है और यदि कोई राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन करता है तो उसे दण्ड भी मिलता है। किन्तु प्रभु ने यह जो वाक्य कहे वह आदेश नहीं और उसे आदेश न कहें तो पूरी तरह से उपदेश भी नहीं कह सकते क्योंकि भगवान् श्री राघवेन्द्र ने स्पष्ट रूप से अयोध्या के नागरिकों को एक भाई के रूप में, एक मित्र के रूप में सम्बोधित किया। उस सम्बोधन में भगवान श्री राघवेन्द्र ने जो उपदेश दिए हैं उसमें कोई व्यक्ति विशेष उनके समक्ष नहीं है। वहाँ पर भी भगवान् ने छूट दे दी है। उपदेश में छूट होती है। आप सुनते हैं, उसमें आपको जो प्रिय लगता है या आपको लगता है कि आप इसे कर सकते हैं उतना आप करते हैं। इसलिए भगवान् श्रीराम ने अयोध्यावासियों से कहा कि मैं जो उपदेश तुम्हें देने जा रहा हूँ—'कहहुँ करहु जो तुमहि सुहाई।' मैं तो कह ही रहा हूँ, पर उसमें जो तुम्हें अच्छा लगे वह ग्रहण करो। और यहाँ भी प्रभु ने एक बात कह दी। वक्ता को यदि टोक दें तो यह परम्परा सही नहीं मानी जाती, पर प्रभु ने कहा कि यदि मेरी वाणी के द्वारा कोई वाक्य ऐसा हो जो सही न लगे, नीति के विरुद्ध लगे तो आप टोक दें। आप भय छोड़कर मुझे रोक सकते हैं—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥७/४२/६

यह जो सन्देश, उपदेश प्रभु ने समस्त प्रजा को सामने रखकर दिया, वह ऐसा उपदेश है जो अधिकांश लोगों के लिए है। जो अपवाद हैं उनकी बात जाने दें, उनके लिए भगवान् अलग उपदेश देते हैं। वह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। उसमें साधना और कृपा को लेकर प्रभु ने जो वाक्य कहा वह बड़े

महत्त्व का है। यह जो शरीर मनुष्य को प्राप्त हुआ है इसकी तुलना में प्रभु ने जो कहा उसे आपने पढ़ा या सुना होगा। प्रभु ने कहा—मित्रो ! यह मनुष्य का शरीर बड़े भाग्य से मिला हुआ है—'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' यह शरीर साधना का धाम है। इस पर आप ध्यान दें तो बात बड़ी सरलता से समझ में आती है कि आप अपने रहने के लिए जो घर बनाते हैं या कोई बना-बनाया घर भी आपको रहने के लिए मिल जाए, यह बात भी हो सकती है। घर बनाते समय आपको इस बात का ध्यान रहता है कि इसमें कौन-सी सुविधाएँ हमें चाहिए। यदि घर में सभी वस्तुएँ हैं तो आपके लिए कोई समस्या नहीं है और यदि कोई कमी होती है तो आप उसे तोड़-फोड़कर उस घर को ऐसा रूप देते हैं कि जिसमें आप अच्छी तरह रह सकें।

भगवान् श्रीराम ने कहा कि ईश्वर ने जो आपको भवन दिया है वह स्पष्ट रूप से साधन के लिए दिया है। इससे कृपा का महत्त्व कम नहीं हो जाता। ध्यान रखें धाम का अपना महत्त्व है और उस धाम में रहने वाले व्यक्ति की अपनी मनःस्थिति का अलग महत्त्व है। तो उसमें भगवान् ने जो एक वाक्य कहा उसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति अपने शरीर की ओर दृष्टि डाले, क्योंकि यह जो घर मिला हुआ है यह व्यक्ति का बनाया हुआ नहीं है। किसने दिया है ? आपको जो घर देता है उसने अपने ढंग से उस घर को बनाया है। तो हमें यह जो शरीर मिला हुआ है यह हमारा-आपका बनाया हुआ तो नहीं है, दूसरे से मिला हुआ है। और भगवान् राम कहते हैं कि यदि हम अपने शरीर की संरचना पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट पता चल जाता है कि यह शरीर क्यों मिला हुआ है और इसमें क्या सङ्केत और सन्देश है। इसका अर्थ है कि आप सत्सङ्ग में जाएँ, उपदेश सुनें। यह तो उपयोगी है ही, पर यदि आप अपने शरीर की ओर भी दृष्टि डालें तो उसमें आपको वह सङ्केत और सन्देश मिलेगा जो भगवान् श्रीराम के उपदेशों में है।

जब हम शरीर की ओर दृष्टि डालते हैं तो एक तो यही पाते हैं कि यह शरीर निरन्तर परिवर्तनशील है, बदलता रहता है। यह भी स्पष्ट है कि शरीर एक जैसा नहीं रहता। उसे साधारणतया हमने, आपने अवस्थाओं में बाँटा है। एक बालक है फिर वह धीरे-धीरे युवक होता है, वृद्ध होता है और एक दिन शरीर क्षय को प्राप्त हो जाता है। तो यह जो शरीर की परिवर्तनशीलता है, यह स्वयं अपने आपमें एक सन्देश है। और यदि कोई सन्देश ग्रहण

करनेवाला हो तो उसके लिए सन्देश है और यदि कोई ध्यान ही न दे तो कोई सन्देश नहीं है। इसलिए आप 'मानस' के भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में यह सन्देश पाएँगे कि कुछ ऐसे पात्र हैं जिन्होंने शिक्षा ली। शिक्षा उन्होंने सन्तों और महात्माओं से तो ली ही, स्वयं शरीर से भी ली।

इस प्रसङ्ग में सबसे पहले उनका नाम लें जो मानव जाति के आदिपुरुष हैं। वे हैं महाराज मनु। जो मनुष्य शब्द है वह महाराज मनु की सन्तान के लिए ही प्रयुक्त होता है। मनु महान् राजा थे, स्मृतियों के निर्माता थे और समस्त समाज को उन्होंने उसके अनुकूल चलाया। गोस्वामीजी ने प्रारम्भ में जो वर्णन किया है वह यही है—

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा।
जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका।
अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥१/१४१/१-२

उसके बाद वर्णन आता है कि महाराजश्री मनु जब वृद्ध हो गए तो उस वृद्धावस्था में व्यक्ति की शारीरिक क्षमताएँ कम हो जाती हैं। अब उसके बाद जब वे इस वृद्धावस्था की ओर दृष्टि डालते हैं तो उनको लगता है कि यह जो शरीर हमें मिला, युवावस्था में मैंने इसके द्वारा धर्म का पालन किया, धर्म का उपदेश दिया। पर जब मैं वृद्ध हो गया हूँ तब यह निर्णय करने का समय आ गया है कि यह शरीर जो वृद्धावस्था के रूप में हमारे सामने है, वह हमें क्या सन्देश दे रहा है? अब अन्तर तो है ही।

रावण जैसा व्यक्ति वृद्धावस्था को एक दूसरे अर्थ में लेता है। बहुधा समाज में अधिकांश लोग बूढ़ा शब्द को उसी अर्थ में लेते हैं जिस अर्थ में रावण लेता था। अब वह बूढ़ों के लिए कहता है कि सठिया गया है, इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। बूढ़ा माने, जो किसी काम का नहीं है—रावण का दर्शन यही था। जाम्बवान के लिए उसने कह दिया—अरे यह जाम्बवान क्या है?—'जाम्बवन्त मन्त्री अति बूढ़ा।' अरे यह तो बूढ़ा हो गया है और यदि किसी को छोड़ देता है तो कहता है—'बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही।' चलो, तुम बूढ़े हो, इसलिए तुम्हें छोड़ देते हैं। उसकी वृद्धावस्था पर जो दृष्टि है, उसकी पराकाष्ठा तो तब सामने आई जब अंगद रावण की सभा में गए। अंगद ने रावण को उपदेश देने की चेष्टा की, तो रावण ने कहा—तुम मुझे

उपदेश देने की चेष्टा कर रहे हो, तुम मुझे डराने की चेष्टा कर रहे हो! और तब उसने बताया कि 'मैं कितना बड़ा ज्योतिषी हूँ।' हाँ, रावण ज्योतिषशास्त्र का बड़ा पण्डित था। उसने कहा कि जब मैंने अपना सिर काटकर शङ्करजी को चढ़ा दिया और उसे आहुति के रूप में अग्नि में डाला तो नया सिर निकल आया तब मुझे ध्यान आया कि ब्रह्मा प्रत्येक व्यक्ति के सिर में उसका भाग्य लिख देते हैं। मैंने सोचा कि जरा देखें मेरे सिर पर ब्रह्मा ने क्या भाग्य लिखा है! जब देखा, पढ़ा तो लिखा था कि इसकी मृत्यु एक मनुष्य के हाथ से होगी। मैं हँस पड़ा। क्यों? इसलिए कि ब्रह्मा का यह लिखा हुआ इसलिए सत्य नहीं हो सकता क्योंकि वह ब्रह्मा भी तो बुड्ढा हो गया है। उसका दिमाग खराब हो गया है। यही रावण का वाक्य है। अंगद के ओंठों पर व्यंग्य की हँसी आ गई। रावण ने यही कहा कि—

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला।
बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर कें कर आपन बध बाँची।
हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥६/२८/१-२

क्यों?

सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरें।
लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें॥६/२८/३

वृद्धावस्था में व्यक्ति की इन्द्रियाँ वैसे ही शिथिल हो जाती हैं। अब जो व्यक्ति ऐसा चिन्तन करता हो कि ब्रह्मा भी बूढ़ा होकर बुद्धिहीन हो सकता है तो कोई भी चिन्तक जिस रूप में उसे देखेगा, उसी रूप में वह दिखाई देगा। तो क्या सचमुच भगवान् ने मनुष्य को जो वृद्धावस्था दी है उसका क्या यही अर्थ है कि उसने ऐसी वस्तु दे दी है जिसका कोई उपयोग ही नहीं है! जो व्यर्थ है! तब रावण के जीवन-दर्शन और मनु के जीवन-दर्शन में जो अन्तर है वह यही है कि वृद्धावस्था को मनु एक उपदेश के रूप में लेते हैं, जबकि रावण वृद्ध को उपहास की दृष्टि से देखता है। यह जो दो दृष्टि हैं इस पर यदि हम ध्यान दें कि जब ईश्वर ने हमें शरीर दिया तो उसमें वृद्धावस्था भी दे दी। इस वृद्धावस्था को लेकर लोगों के मन में बड़ा दुःख रहता है। यद्यपि वृद्धावस्था में कष्ट भी बहुत होता है। ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्य कुछ अधिक बोलने वाला हो जाए और इतना होते हुए

भी यदि उसमें भूलने की क्षमता विकसित हो जाए तो यह भूलना भी कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी का वह दोहा आपके ध्यान में लाना चाहूँगा।

गोस्वामीजी ने बड़ी लम्बी आयु पाई थी। अभी कुछ वर्ष पूर्व उनके पाँच सौ वर्ष पूरे हुए थे। गणित के हिसाब से उनकी आयु एक सौ अट्ठाईस वर्ष हमारे सामने आती है। इतनी लम्बी आयु पाने के बाद स्वाभाविक रूप से शरीर में शिथिलता आ जाती है। उनको कानों से कुछ कम सुनाई देने लगा था, आँखों से भी कम दिखाई देने लगा था, चलने में भी थोड़ी कठिनाई-सी लगती थी। ऐसे में भी उनके शिष्य चाहते थे कि हमारे गुरुदेव अधिक-से-अधिक समय तक जीवित रहें, स्वस्थ रहें जिससे उन्हें गुरुदेव का सान्निध्य अधिक समय तक मिले। गुरुदेव से वे आग्रह करने लगे कि आप आदेश दीजिए। कोई भी बड़े-से-बड़ा वैद्य आपके पास आने में अपना सौभाग्य मानेगा। उसे आप दिखला दें और वे जो दवा दें उस दवा के द्वारा आप जितने स्वस्थ रहेंगे, हम लोगों के लिए वह जीवन में वरदान हो जाएगा। गोस्वामीजी ने जो बात कही वह बड़े महत्त्व की है। गोस्वामीजी ने कहा, ठीक है, तुम लोगों की इतनी इच्छा है तो तुम वैद्य ले आओ, पर उस वैद्य से मैं जो चाहूँगा, उसे पहले सुन लो। यदि उन्हें पता चले कि मुझे कम सुनाई देता है तो मुझे अधिक सुनने की इच्छा नहीं है। भई कम सुनाई देना अभिशाप है कि वरदान है! लगता है अभिशाप है—उन लोगों के लिए जिन्हें दूसरों की बात सुनने की बड़ी इच्छा रहती है। यह दूसरों की बातें अर्थात् निन्दा-स्तुति—ऐसी बातें। यदि कम सुनाई दे तो उसके लिए गोस्वामीजी ने 'मानस' में एक व्यंग्य किया है। राजा पृथु के चरित्र में एक स्थान पर वर्णन आता है कि ब्रह्मा ने जब राजा पृथु से पूछा कि तुम्हें क्या चाहिए? तब उन्होंने कहा कि मुझे हजार कान दे दीजिए। क्यों? इसलिए कि हजार कान से हम निरन्तर आपकी कथा सुनते रहें। गोस्वामीजी ने व्यंग्य में लिखा कि जो पापी प्रकृति का व्यक्ति होता है वह पशु से कम नहीं होता। यदि ब्रह्मा उससे पूछे कि तुम क्या चाहते हो तो वह यही कहेगा कि मुझे हजार कान चाहिए। पर काहे के लिए चाहिए? गोस्वामीजी ने लिखा, 'पर अघ सुनइ सहस दस काना।' जिससे दूसरे के बारे में आकर कोई बतावे कि वह ऐसा है, ऐसा कर रहा है—वह सुनने के लिए उसको हजार कान चाहिए। यदि

वृद्धावस्था में सुनने में कुछ कमी आ गई तो यह तो बड़ा वरदान हो सकता है। कम-से-कम निन्दा सुनने को तो नहीं मिलेगी, कम-से-कम गन्दी बातें सुनने को तो नहीं मिलेंगी।

गोस्वामीजी ने कहा, ठीक तो है, शरीर है तो अन्त में सुनाई तो कम देगा ही। और दृष्टि! जीवनभर देखते रहे और इतना देखने के बाद भी यदि कुछ देखना बाकी है तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। और यदि वह दृष्टि से दिखाई नहीं दे रहा है तो उसका अर्थ यही तो हुआ कि जिसे अब देखना है, उसे देखने के लिए आँखें चाहिए ही नहीं। इन आँखों से वह दिखाई नहीं देता। तब गोस्वामीजी कहते हैं कि तुम ऐसा वैद्य ले आओ कि—

श्रवण घटहु पुनि दृग घटहु, घटहु सकल बल देह।

यह सुनकर शिष्य निराश हो गए। बोले महाराज, वैद्य दवा तो उन्हें दूर करने के लिए देता है। तब वैद्य आकर क्या करेगा? तो उन्होंने यही कहा कि वह वैद्य आकर देखे और नाड़ी देखकर यह पता लगा सके—

श्रवण घटहु पुनि दृग घटहु, घटहु सकल बल देह।
इते घटे घटिहै न कछु, घटै न हरि सो नेह॥

भगवान् से प्रेम तो कम हो नहीं रहा है और उनके पास कोई दवा हो जो भगवान् से प्रेम को बढ़ाने वाली है तो दे दे। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति यदि गहराई से विचार कर देखे तो उसे लगने लगेगा कि अब यह जो शिथिलता शरीर में आई है, यदि उससे कुछ व्यवहारिक हानि है तो कुछ लाभ भी हैं। इससे मनुष्य के मन में यह बात आनी चाहिए कि यह अवस्था उसे क्योंकर प्राप्त हुई है। उसको अनेक रूपों में देखा जा सकता है।

आप महाराज दशरथ के जीवन में पाते हैं कि कान के पास उन्होंने सफेद बाल देखे तो उन्हें लगा कि कान के पास कोई आता है तब कोई-न-कोई बात कहने के लिए आता है। बालों से उन्होंने त्याग का उपदेश सुना कि मानों बाल कह रहे हैं कि महाराज! अब इस मुकुट को उतारिए और इस मुकुट को उतारकर श्रीराम के शीश पर रख दीजिए। तब इसका अभिप्राय है कि वृद्धावस्था को अभिशाप के रूप में तो सभी लोग देखते हैं, अधिकांश लोग देखते हैं, लेकिन यदि व्यक्ति में चिन्तन हो तो ठीक है, सब कुछ भूल जाए, पर सब कुछ भूल जाने के बाद उसके मन में यह बात आनी चाहिए कि

और बातें तो भूल गई, पर मुझे भगवान् की स्मृति बनी हुई है। बस व्यक्ति यदि इतना समझ ले तो वह वृद्धावस्था की शिथिलता को, दुर्बलता को अभिशाप के रूप में नहीं देखेगा, क्योंकि इसका तात्पर्य है कि ईश्वर यदि चाहता तो मनुष्य को ऐसा शरीर दे देता कि व्यक्ति सदा जवान ही रहता। लेकिन यह जो ईश्वर ने दिया है इसका अभिप्राय है कि नहीं, नहीं, युवावस्था में जो करणीय था वह तुमने कर लिया, लेकिन तुम्हें और कुछ करना शेष है।

यदि हम शरीर की परिवर्तनशीलता पर दृष्टि डालें तो लगने लगेगा कि शरीर हमें उपदेश दे रहा है। यही महाराज मनु की भी विशेषता है। जब वे वृद्ध हो गए तो उनके लिए वह दोहा जो गोस्वामीजी ने लिखा कि उन्हें दुःख का अनुभव हुआ। यह दुःख जीवन में दो प्रकार का होता है—एक अभावजन्य दुःख और दूसरा विचारजन्य दुःख। अभावजन्य दुःख बहुतों के जीवन में होता है जो उन्हें निराशा की ओर ले जाता है। विचारजन्य दुःख व्यक्ति को जीवन में सही दिशा देता है। महाराज मनु के जीवन में कोई अभावजन्य दुःख नहीं था। राजा थे, सम्राट थे, सारी मानव-जाति उनकी अनुगामी थी। पत्नी पतिव्रता थी, पुत्र आज्ञाकारी थे। उन्होंने सोचा कि सब तो है, पर जीवन में परम लक्ष्य मिला कि नहीं?

तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला।
प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥१/१४१/८

इसलिए गोस्वामीजी का यह सोरठा कितना प्रेरक है—

'हृदयँ बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।'

यह विचारजन्य दुःख है। हमें जीवन में जो कुछ चाहिए या इसे यों कहें कि जीवन का जो अन्तिम लक्ष्य है, वह नहीं मिला। इसका तात्पर्य है कि शरीर के साथ जो विचार करने की परम्परा है, वह मनु के जीवन में आई। चिन्तन के उस क्षण में मनु ने निश्चय कर लिया, किन्तु बहुत सन्तुलित कि जीवन में वैराग्य ही नहीं हुआ तो क्या करें? तब मनु ने विचारा कि वैराग्य नहीं है पर त्याग की चेष्टा तो हम करें। यह भी बड़ी प्रेरक बात है। हमें, आपको, अनेक रोग घेर लेते हैं। हमारे जीवन में कई वस्तुएँ ऐसी हैं जो बड़ी अच्छी लगती हैं, प्रिय लगती हैं, पर डॉक्टर या वैद्य बता देता है कि आपको ये चीजें छोड़नी हैं। तब उन वस्तुओं से वैराग्य थोड़े ही हो जाता है। उन वस्तुओं से राग है, पर लगता है कि नहीं, नहीं, यदि हम इनका त्याग नहीं करेंगे तब तो ये हमारे

लिए मृत्यु का सन्देश लेकर आनेवाली वस्तुएँ बन जाएँगी। इसका तात्पर्य यही है कि बहुत बिरले लोगों के जीवन में बड़ी कठिनाई से वैराग्य का उदय होता है।

यह सारा झगड़ा उस सत्ता को लेकर है जो समाज में व्याप्त है। परिवार से लेकर सारे समाज में प्रत्येक व्यक्ति के मन में पाने की इच्छा है। त्याग की इच्छा नहीं होती। जहाँ पाने की होड़ होगी, विवाद होगा, सङ्घर्ष होगा, उसमें जो शक्तिशाली होगा वह विजयी हो जाएगा। परिस्थिति विशेष में मनुष्य की स्थिति इसी प्रकार की है, पर किसी व्यक्ति को यदि इसकी अनुभूति हो जाए कि नहीं, नहीं, इस वस्तु के लिए हम लड़ेंगे नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ। शङ्कराचार्य जी महाराज ने तो कहा कि यह जो वृद्धावस्था है, यह तो एक प्रकार से मृत्यु की सन्देशवाहिका है—

कृतान्तस्य दूती जराकर्ण मूले समागत्य लोका

....
तजन्ती रमानाथ पादारविन्दम्।

अब तक तुम जिन वस्तुओं को पकड़े रहे, अब उन्हें छोड़ दो। इसका अर्थ क्या है? कि नहीं छोड़ना चाहोगे तो एक दिन तो छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य की अन्त में मृत्यु तो होगी ही। तो जिसको छोड़ना ही पड़ेगा उसका बढ़िया-से-बढ़िया प्रयोग कर लें—बुद्धिमान् व्यक्ति का यही कर्त्तव्य है।

जो शरीर या वस्तु जानेवाली है उसको हम किसी काम में लगाकर उससे मुक्त हो लें—यह विचार मन में उदित होता है। तब आप पढ़ते हैं कि मनु के मन में साधना की इच्छा उत्पन्न होती है। मानो भगवान् राम ने अयोध्यावासियों को उपदेश देते हुए कहा कि सारे शरीर की रचना ही ईश्वर ने ऐसे की है कि जो साधना का भवन है, पर एक बहुत बढ़िया बात उसमें जुड़ी हुई है। यदि कोई भवन हो और उसमें कोई द्वार न हो? तब तो वह भवन नहीं रह जाएगा। वह तो कब्र बन जाएगी, क्योंकि कब्र में कोई दरवाजा नहीं होता। उसमें चारों ओर दीवार-ही-दीवार होती है। किन्तु भवन की यह विशेषता होती है कि उसमें दरवाजा होता है। पर ऐसे भवन में दरवाजा भी है पर वह बन्द है। उस पर ताला लगा है। यह महँगा भवन जेलखाना ही तो है, उसको आप चाहें भी तो खोल नहीं सकते। भगवान् राम ने जो यह सङ्केत किया कि मनुष्य क्यों नहीं अपने शरीर की ओर ध्यान से देखता? यह शरीर

बाल्यावस्था में स्मरण-शक्ति की तीव्रता लिए रहता है। युवावस्था में शरीर की शक्ति बढ़ जाती है और इसी प्रकार वृद्धावस्था आते-आते उसमें विचार की शक्ति बढ़ सकती है। यदि वह विचार को महत्त्व देता है तो परिणाम यह होगा जैसा महाराज मनु ने त्याग के माध्यम से प्राप्त किया।

साधना के लिए भगवान् ने कहा कि ये जो शरीर है—साधना के लिए है और इसकी विशेषता यह है कि इसमें दरवाजा भी है—'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' यदि उसका द्वार नहीं खोजेंगे तो चारों ओर से अपने को घिरा हुआ पाएँगे। जैसे कोई व्यक्ति चारों ओर से घेर लिया जाए तो वह सोचेगा कि हम किधर जाएँ। चारों ओर से तो लोग घेरे खड़े हैं। इसी प्रकार से मनुष्य यदि अपने जीवन को देखे तो उसे लगेगा कि हम चारों ओर से घिरे हुए हैं। यह चारों ओर कौन-सा है? 'मानस' में आप पढ़ते हैं—

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।७/४३/५

एक ओर काल का घेरा है, दूसरी ओर कर्म का, तीसरी ओर स्वभाव का और चौथी ओर गुण का। अब यह चारों ओर से घिरा हुआ जो व्यक्ति है वह यह देखे कि इसमें से निकलने के लिए कोई द्वार है कि नहीं। आगे चलकर मनुष्य के शरीर के सन्दर्भ में एक व्यंग्यात्मक प्रसङ्ग आता है। मन्दोदरी ने रावण से यही कहा कि यह आप क्या कर रहे हैं। आपने अपनी युवावस्था में, जब आप में अतुलित बल था, तब राम द्वारा धनुष भङ्ग कर जानकी से विवाह करते समय चुनौती क्यों नहीं दी! युद्ध क्यों नहीं किया।

जनक सभाँ अगनित भूपाला।
रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला।।
भंजि धनुष जानकी बिआही।
तब संग्राम जितेहु किन ताही।।६/३५/१०-११

यह भी व्यंग्य है। रावण ब्रह्मा को बूढ़ा समझता है, पर अपने आपको बुड्ढा नहीं समझता। उसकी अवस्था भी बहुत हो गई थी। मन्दोदरी ने उससे यही कहा कि जरा सोचिए तो—

चाहिअ करन सो सब करि बीते।
तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।।६/६/२

अब आप ऐसा कीजिए, अपने पुत्र को राज्य दे दीजिए, '**सुत कहुँ राज समर्पि**

बन जाइ भजिअ रघुनाथ।' देखिए आपका पुत्र कितना योग्य है, ऐसे में आपका कर्त्तव्य है कि आप उसको राज्य दे दीजिए। तब आप जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा कीजिए। पर रावण तो महापण्डित है। उसे लगता है कि मुझे उपदेश देने की धृष्टता करना सबसे बड़ा अपराध है। मन्दोदरी ने भी यही कहा—

संत कहहिं असि नीति दसानन।
चौथेंपन जाइहि नृप कानन।।६/६/३

सन्त भी यही कहते हैं कि राजा को वन में चले जाना चाहिए। रावण इसे अनसुना कर देता है, लेकिन कैसी विचित्र विडम्बना है, मेघनाद की मृत्यु हो गई। रावण को मेघनाद पर बड़ा भारी विश्वास था, लङ्कावासियों को था, 'चला इन्द्रजित अतुलित जोधा।' ऐसा उसका परिचय था। उसके निधन से चारों ओर शोक व्याप्त हो गया। तब रावण ने क्या किया? वह शोकग्रस्त रानियों के बीच में बैठकर उन्हें उपदेश देने लगा—

तब दसकंठ बिबिधि बिधि समुझाईं सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयँ बिचारि।।६/७७

रानियो! तुम हृदय में विचार कर देखो, यह शरीर तो नाशवान् है, इसे तो एक दिन जाना ही है। कितना बड़ा व्यंग्य है। यदि रावण समझता होता कि यह शरीर नश्वर है और जब तक वह है तब तक हम उसका सदुपयोग करें तो जो अनर्थ रावण ने किया वह क्यों करता?

इस स्थिति के विपरीत गोस्वामीजी कहते हैं कि उपदेश दे रहा है, ग्रन्थों में तो सब लिखा हुआ है, उसे वाक्य में तो कोई भी दुहरा सकता है। लेकिन जब वह कहता है कि 'नस्वर रूप जगत सब देखहु हृदयँ बिचारि'—हृदय में विचार कर देखो। पर क्या वह स्वयं विचार कर रहा है? नहीं, मुझे क्या करना है। इसलिए गोस्वामीजी ने तुरत लिखा—

तिन्हहि ग्यान उपदेसा रावन।
आपुन मंद कथा सुभ पावन।।६/७७/१

स्वयं के आचरण में वह संसार को कितना सत्य मानता है। उसके लिए कुछ भी करने में उसे थोड़ा भी सङ्कोच नहीं है। इससे यही लगता है कि—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।।६/७७/२

और इसका अर्थ यह है कि शरीर की रचना में भगवान् ने जो परतन्त्रताएँ जोड़ दीं और इन परतन्त्रताओं में ही तो स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र छिपा हुआ है। आज स्वतन्त्रता दिवस है। हम दूसरे देश की परतन्त्रता से मुक्त हुए। यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। किन्तु पूरी स्वतन्त्रता जिसे कहते हैं वह स्वयं अपने जीवन की ओर देखना है कि हम सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र हो रहे हैं कि नहीं?

रामायण में तो बड़ा प्रसिद्ध वाक्य कहा गया कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' जो व्यक्ति पराधीन होता है उसे तो सपने में भी सुख नहीं मिलता। पर पराधीनता का अर्थ केवल बाहर के देश की पराधीनता ही तो नहीं होती। मनुष्य में यदि अपने ही दुर्गुणों की पराधीनता है, अपने ही जीवन में यदि वह अपने विचारों के अनुकूल आचरण नहीं कर पाता है तो कहाँ वह अपने आपको स्वतन्त्र समझ रहा है और कहाँ वह स्वतन्त्रता की दिशा में बढ़ रहा है? तो इसका अर्थ है कि ये जो परतन्त्रताएँ दिखाई दे रही हैं इसके विरुद्ध देश ने विद्रोह किया तो स्वतन्त्रता मिल गई। पर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जो परतन्त्रता है उससे निकलने का क्या उपाय है? इसी को रामायण में कहा गया, 'काल कर्म सुभाव गुन घेरा।' फिर उसके पश्चात्? रामायण के अनेक प्रसङ्गों में इसे भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों के द्वारा समझाने की चेष्टा की गई। एक प्रसङ्ग में गोस्वामीजी कहते हैं कि जनकनन्दिनी श्रीसीता लङ्का में हैं और उनको वहाँ से मुक्त कराने के लिए लङ्का तक पहुँचना आवश्यक है। उसके लिए हनुमान्‌जी तो छलाङ्ग लगाकर उस पार चले गए, पर हनुमान्‌जी तो नियम नहीं हैं, अपवाद हैं। यह समुद्र क्या है? लङ्का क्या है? यह तो गोस्वामीजी सङ्केत करते हैं कि एक लङ्का जो बाहर थी, उसकी तो खोज चल रही है, उस पर बड़े-बड़े लेख प्रकाशित हो रहे हैं। पर एक लङ्का जो अपने भीतर ही बनी है उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। गोस्वामीजी कहते हैं कि वह लङ्का समुद्र से घिरी हुई थी और वह जो समुद्र से घिरी लङ्का है, वह क्या है?

'विनय पत्रिका' के एक पद में गोस्वामीजी ने लिखा कि देह को जो यह 'मैं' मानने की वृत्ति है; मैं माने यह जो विशाल समुद्र है—

कुणप अभिमान सागर भयंकर घोर, बिपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।

—विनयपत्रिका, ५८/५

यह जो देह को 'मैं' मानना है, यही समुद्र है। और सचमुच कितने ऐसे

व्यक्ति होते हैं जो इस देह के अभिमान से, देह के इस घेरे से अपने आपको मुक्त कर सकते हैं। इसमें एक बड़ी व्यंग्यात्मक बात आती है कि रावण ने यह सोचकर लङ्का में निवास किया था कि अन्य राजा लोग तो अपने किले के चारों ओर जल की खाई बनाते हैं। यहाँ तो चार सौ कोस की समुद्र की खाई है और उसे 'को अस बीर जो पावहि पारा।' रावण यही कल्पना करता है, क्योंकि रावण स्वयं समुद्र में घिरा हुआ बैठा था। वह समुद्र से इस सीमा तक घिरा हुआ था कि जब शूर्पणखा से उसे यह समाचार मिला कि चौदह हजार राक्षसों का वध श्रीराम के द्वारा कर दिया गया है तब रात में वह भवन में पलङ्ग पर लेटे-लेटे विचार करता है, '**गयउ भवन अति सोचबस नीद परइ नहिं राति।**' क्या सोच रहा है? लगा कि वह सत्य के बिल्कुल निकट पहुँच गया है। वहाँ उसे लगता है कि—

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥३/२२/२

ये जो चौदह हजार मेरे भाई हैं, मेरे समान ही बलवान हैं, इन्हें भगवान् को छोड़कर कौन मार सकता है? श्रीराम को समझने में मुनियों को भी विलम्ब लगता है, पर रावण को विलम्ब नहीं लगा। पलङ्ग पर लेटे-लेटे एक क्षण में वह विचार कर लेता है कि राम यदि भगवान् हैं तब तो अच्छी बात है। गोस्वामीजी कहते हैं कि यह जानने का फल क्या है? गरुड़ को सम्बोधित करते हुए काकभुशुण्डिजी स्पष्ट करते हैं—

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीती होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥७/८८/७-८

जानने से विश्वास होता है, विश्वास से भक्ति में दृढ़ता आती है। जानने से विश्वास, विश्वास से भक्ति और भक्ति से प्रेम में दृढ़ता। पर रावण का कितना बड़ा दुर्भाग्य है? जान लिया! वह भी एक क्षण में! पर जान लेने के बाद जो होना चाहिए था वह तो बिल्कुल नहीं हुआ। हुआ क्या? जब लगा कि ये भगवान् हैं तब एक प्रकाश, एक सन्देश मिला—भगवान् हैं तो भगवान् तो भक्ति के लिए हैं, उनकी भक्ति करनी चाहिए। पर रावण तुरन्त कहता है—होंगे भगवान्, पर मैं क्या करूँ? क्या समस्या है आपके सामने? सारे

संसार को जीत लिया, इतनी तपस्या कर ली। पर उसकी वही समस्या है जो समुद्र उसे घेरे हुए है—'होइहि भजनु न तामस देहा।' मानो वह कितना असमर्थ है। जानते हुए भी कहता है कि मेरा देह तामसी है, हम कैसे कर सकते हैं भजन। इसका परिणाम यह होता है कि भक्ति और भजन के स्थान पर वह अहङ्कार से भरकर इस दिशा में चलता है कि पहले यह पता लगा लें कि ये भगवान् हैं भी कि नहीं! तब देखेंगे! अन्त में वह यही समझता है कि भगवान् नहीं हैं। तब भगवान् का वह विरोध करता है। जनकनन्दिनी सीता का वह हरण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि रावण की विडम्बना यह थी कि वह सोचता था कि कोई इस समुद्र को पार नहीं कर सकता। पर उसे जब यह समाचार मिला कि श्रीराम ने तो समुद्र पर पुल बनवा दिया तो रावण की दशा क्या हुई? उसको लगता था कि यह असम्भव है। तब गोस्वामीजी ने कहा, 'दस मुख बोलि उठा अकुलाना।' व्याकुल होकर उसने दसों मुख से समुद्र के दस नाम लिए—

बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥६/५

याद रखिएगा ये समुद्र के दस नाम तो शरीर से ही जुड़े हुए हैं। शरीर की दस इन्द्रियाँ ही समुद्र के दस नाम हैं। रावण सोचता है कि इसको राम ने बाँध लिया। इसका अर्थ है कि रावण इतना शक्तिशाली होते हुए भी अपने देह की सीमा में अपने आपको घिरा हुआ पाता है। वह जाने हुए सत्य के विरुद्ध आचरण करता है। इस सबका निष्कर्ष यही है कि यह देहाभिमान का जो समुद्र है इसे पार करना रावण के लिए सम्भव नहीं था और रावण की बात जाने दीजिए बन्दर भी यहाँ असमर्थ हो जाते हैं। हनुमान्जी ऐसे समर्थ हैं, क्योंकि वह देहभाव से ऊपर उठे हुए हैं। इसलिए वे समुद्र को लाङ्घ जाते हैं। आगे चलकर वर्णन आता है कि भगवान् राम जब सारी सेना को लेकर आए तो सभी तो छलाङ्ग लगाकर उस पार नहीं जा सकते थे। इसलिए भगवान् मन्त्रियों से पूछते हैं कि आप लोग बताइए कि इस समुद्र को पार कैसे करें?

संकुल मकर उरग झष जाती।
अति अगाध दुस्तर सब भाँती॥५/४९/६

इसमें बड़े-बड़े जन्तु हैं, मछली हैं, कच्छप हैं, मगर हैं और आपके और हमारे

शरीर में तो यह सब कुछ है। विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी यही तो कहते हैं—

कुणप-अभिमान सागर भयंकर घोर,
बिपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल,
संग संकल्प बीची-विकारं॥

—विनयपत्रिका, ५८/३

लहरें उठ रही हैं और वह वासना की लहरें—नाना प्रकार की वासनाओं की जो सङ्कल्पना है, वे लहरें हैं। इसमें राग और द्वेष के नाना प्रकार के दुर्गुण विद्यमान हैं। जब नाना प्रकार के ऐसे दुर्गुण विद्यमान हैं तो इस देहाभिमान के समुद्र को कैसे पार किया जाए। शरीर के साथ ये समस्याएँ हैं। ये दिखाई देती हैं। प्रभु पूछते हैं, कैसे पार किया जाए? तब दो प्रकार की विचारधाराएँ सामने आईं। विभीषण लङ्का से आए थे। उन्होंने कहा, महाराज! समुद्र तो आपका कुलगुरु है। आपको चाहिए कि आप उनसे प्रार्थना करें और समुद्र जो मार्ग बता दे, उस मार्ग से सेना पार हो जाएगी।

हम देह को गुरु मानें कि नहीं? कई लोग पूछते हैं कि विभीषण ने यह कैसे कह दिया कि समुद्र आपका कुलगुरु है? आप यदि गहराई से विचार करके देखें तो उसमें दो सङ्केत मिलते हैं। विभीषण ने जो कहा उसे प्रभु ने सुना और प्रभु ने जो बात कही, वहाँ पर भी साधना और कृपा के दोनों सूत्र आते हैं। भगवान् ने कहा, 'सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।' तुमने उपाय तो बहुत सुन्दर बताया लेकिन 'करिअ दैव जौं होइ सहाई।' यदि दैव सहायक होगा तो सफलता मिलेगी। पर लक्ष्मणजी जैसा पुरुषार्थी कौन हो सकता है? वे पुरुषार्थ के पुञ्ज हैं। भगवान् के मुख से यह वाक्य निकलते ही उन्होंने कहा कि प्रभु, आपके श्रीमुख से तो यह बात शोभा नहीं देती। यह दैव को दुहाई देना तो केवल आलसी और निकम्मे लोगों का काम है। अभी स्वामीजी ने तो कह दिया कि वह सब दैव-आधीन है। उसे कृपा कह लें तो कह लें, पर—

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।
राम बचन सुनि अति दुख पावा॥५/५०/२

कहने लगे—

नाथ दैव कर कवन भरोसा।
सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥५/५०/३-४

दोनों सिद्धान्तों में भेद है। प्रभु ने अभी समर्थन किया है। लक्ष्मण की बात सुनकर, बड़े प्रसन्न होकर, प्रभु हँसे और हँसते हुए बड़ी मीठी बात कही, यही सन्तुलन है। लक्ष्मणजी ने कहा, महाराज! जनकनन्दिनी श्रीसीता जब इतने सङ्कट में हैं। बड़ी साङ्केतिक भाषा है। रामायण की भाषा कभी-कभी बड़ी साङ्केतिक होती है। जब हनुमान्जी लङ्का से लौटकर आए तो प्रभु ने पूछा कि लङ्का में श्रीसीताजी कैसी हैं, उनकी विपत्ति जरा विस्तार से बताओ। इस पर हनुमान्जी ने जो वाक्य कहा वह बड़ा विचित्र था। बोले—

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥५/३०/९

हे दीनदयाल! सीताजी की विपत्ति अति विशाल है, इसलिए न कहना ही अच्छा है। अब जो लोग कविता के मर्म को नहीं जानते, उनके लिए ठीक है। हनुमान्जी ने ऐसा वाक्य कहा। यहाँ विपत्ति के साथ हनुमान्जी ने जो दो शब्द जोड़ दिए वह महाकाव्य की दृष्टि से दोष कहा जाएगा। व्याकरणशास्त्र में तो यह बात कही गई कि किसी घर में पुत्र होने पर बहुत प्रसन्नता होती है, पर व्याकरण के किसी पण्डित को, काव्यशास्त्री को यदि यह दिखाई दे जाए कि एक मात्रा किसी प्रकार कम की जा सकती है तो क्या उसके बिना भी काम चलेगा? तो कहते, 'अर्द्धमात्रा लाघवेन वैय्याकरणा पुत्रोत्सयं मन्यते।' आधा मात्रा यदि कम हो जाए तो वैय्याकरण को लगता है जैसे उसके घर में पुत्र का जन्म हो गया हो। तो हनुमान् अति विपत्ति कहकर छोड़ देते, पर हनुमान्जी कहते हैं विपत्ति अति और विशाल। यह अति और विशाल कहने में क्या अर्थ है भाई? यह वाक्य बहुत साङ्केतिक है। जब हनुमान्जी ने कहा और प्रभु ने सुना तो प्रभु उसका रहस्य समझ गए। हनुमान्जी महाराज ने यह वाक्य इसलिए कहा; पहले तो जो सम्बोधन उन्होंने किया वह बड़ा अनोखा था—'हे दीनदयाल' और यही शब्द श्रीसीताजी ने हनुमान्जी से कहा था—

दीन दयाल बिरिदु संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥५/२६/४

सीताजी ने कहलवाया है कि हे दीनदयाल! आप अपने विरद की सम्भाल कीजिए और मेरे भारी सङ्कट का निवारण कीजिए।

श्रीसीताजी के द्वारा प्रयुक्त यह जो शब्द है दीनदयाल—यह प्रभु की स्तुति नहीं है, प्रभु के प्रति उलाहना है। जो उसके मर्म को छुएगा वही समझेगा। मान लीजिए किसी भोज में आप अपने प्रियजनों को बुलावें, अपने मित्रजनों को बुलावें और आपका जो पुत्र है उसकी ओर आपका ध्यान ही न जाए और उसे इतनी प्रबल भूख लग जाए कि जहाँ भिखारियों को भोजन बंट रहा हो, वहाँ वह बैठ जाए और बाँटनेवाला जब यह देखे कि अरे यह तो घर का बच्चा भिखारियों में बैठ गया तो मानो यह बड़ी उलझन की बात है। सीताजी का अर्थ यह था कि यदि आप मेरे प्रियतम होते या आपसे मेरा नाता होता तो यह मुझे थोड़े ही कहना पड़ता पर आपको जब ध्यान ही नहीं है तब तो आपको दीनदयाल कहना ही पड़ेगा। यही मान लीजिए कि मैं दीन हूँ। यह बहुत बड़ा उलाहना है। बोलीं—आपसे मुझे कहना पड़े? पुत्र यदि पिता से कहने लगे कि आप तो बड़े दीनदयाल हैं। पुत्र के इस शब्द 'दीनदयाल' में क्या व्यंग्य नहीं झलकता। हनुमान्जी ने भी कह दिया, हे दीनदयाल! उसे न कहना ही अच्छा है। क्यों? इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मैं सुनाने लगूँगा कि श्रीसीताजी की विपत्ति कितनी विशाल है, तो जितने बन्दर हैं, ये भी तो सुन रहे हैं, तो उसी दिन से इनकी आपके प्रति जितनी भक्ति है, वह मिट जाएगी। अपनी पत्नी को ही विपत्ति से नहीं बचा रहे हैं तो हमें क्या बचाएँगे? न कहलवाइए दीनदयाल तो ही अच्छा है। इसलिए दीनदयाल कहा—

'सीता कै अति बिपति बिसाला' में बहुत बड़ा व्यंग्य था। प्रभु ने कहा, यह विपत्ति को अति विशाल क्यों बता रहे हो? बोले, प्रभु आज तक तो मैं आपकी भुजा को ही विशाल समझता था। इसलिए जहाँ भगवान् की भुजा आवेगी वहाँ विशाल शब्द अवश्य मिलेगा—'भुज बिसाल भूषण जित मोरी।' प्रत्येक स्थान पर भगवान् की भुजाएँ विशाल हैं। इसके द्वारा भक्तों को आश्वासन मिलता है कि तुम्हारे ऊपर विपत्ति हो और यदि तुम उन्हें पुकारो तो उनकी विशाल भुजाएँ इतनी लम्बी हैं कि तुम्हें विपत्ति से उबार लेंगी। गोस्वामीजी जब यह कह रहे थे तब किसी ने उनसे कह दिया कि

महाराज आप भविष्य की चिन्ता नहीं कर रहे हैं, वृद्ध होते चले जा रहे हैं। वृद्धावस्था के बाद भी तो जीवन की यात्रा चलेगी। तब गोस्वामीजी ने वृद्धावस्था की उस यात्रा के बारे में कवितावली में कहा—

जबै जमराज रजायसतें मोहि लै चलिहैं भट बाँधि नटैया।
तातु न मातु, न स्वामि-सखा, सुत-बंधु बिसाल बिपत्ति बटैया॥
साँसति घोर, पुकारत आरत कौन सुनै, चहुँ ओर डटैया।
एकु कृपाल तहाँ 'तुलसी' दसरत्थ को नंदनु बंदि कटैया॥५१॥

उनकी भुजाएँ इतनी विशाल हैं कि वे बचा लेंगे। हनुमान्‌जी ने कहा कि प्रभु सारे भक्तों ने आपकी भुजा को विशाल कहा और मैं भी यही कहता, लेकिन लगता है कि लङ्का तक आपकी भुजाएँ नहीं पहुँच पा रही हैं, तो विपत्ति ही विशाल होगी। तभी तो आपकी विशाल भुजाएँ नहीं पहुँच पा रही हैं। यह उलाहना था। प्रभु समझ गए।

इसका अभिप्राय यही है कि भक्त जब प्रभु को उलाहना देता है कि अब भी क्या विलम्ब करने में आप लगे रहेंगे। और तब प्रभु—'**निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति। बेगि चलिअ प्रभु आनिअ।**' प्रभु आप चलिए, भुजा वहाँ तक नहीं पहुँच रही है तो आप तो चलिए। आप तो यात्रा करके पहुँच जाइए और प्रभु ने भी तुरन्त कहा—'अब विलंबु केहि कारन कीजे।' तो जिस समय विभीषण ने प्रभु से कहा कि अनशन कीजिए, तो इतना बुरा लगा लक्ष्मणजी को कि यह लङ्का से अच्छा उपदेशक आया। अब अनशन कीजिए! प्रार्थना कीजिए! उसके बाद समुद्र मार्ग बतावे! क्या यह उपदेश है? तो वे बड़े त्यागी-विरागी हैं। श्री लक्ष्मण ने कहा, महाराज, आलसी लोग दैव-दैव पुकारा करते हैं। उनका कहना था कि आपका यह गुण बहुत बड़ा भले ही हो पर इस समय—'**सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा।**' क्रोध तो कीजिए, हर समय शान्ति ही ठीक नहीं है। क्रोध भी करना चाहिए, जरा शौर्य का भी प्रदर्शन कीजिए। धनुष पर बाण चढ़ाइए, समुद्र को सुखा दीजिए। क्या बढ़िया, हमारे प्रभु से कोई बोलना तो सीख ले। जब लक्ष्मणजी ने कहा कि महाराज, समुद्र को शौर्य से सुखा दीजिए तो धीरे-से प्रभु ने हँसकर कहा—'ऐसेहि करब धरहु मन धीरा।' शौर्य के साथ धैर्य भी तो चाहिए। तो तुम मुझे शौर्य के लिए कह रहे हो तो तुम धैर्य धारण करो।

वह एक सूत्र था। जब शौर्य और धैर्य दोनों का सामञ्जस्य होगा तो ठीक होगा। तुमने अपना काम किया, कहा शूर बनिए, मैं कहता हूँ कि धैर्य धारण करो। और आप देखते हैं भगवान् ने तीन दिन तक उपवास किया, अनशन किया और उस अनशन का उद्देश्य पूरा हुआ। उस समय भगवान् ने एक अनोखी बात कह दी। जब तीन दिन के बाद समुद्र ने कोई सन्देश नहीं दिया तो प्रभु ने लक्ष्मणजी की ओर देखा—

लछिमन बान सरासन आनू।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥५/५७/१

लाओ धनुष-बाण, समुद्र को सुखा दें। लक्ष्मणजी बड़े प्रसन्न हुए, 'यह मत लछिमन के मन भावा।' हाँ महाराज, मैं तो पहले ही जानता था कि इसके बिना काम नहीं चलेगा। लक्ष्मणजी जैसा समझते थे वैसा हुआ नहीं। प्रभु ने शब्द से कह दिया कि मैं समुद्र को सुखा दूँगा, लेकिन—

संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।
उठि उदधि उर अंतर ज्वाला॥५/५७/६

समुद्र जब जलने लगा तो वह सामने आ गया। वहाँ जब प्रभु ने समुद्र को सुखाने के लिए बाण माँगा उस समय तो कह दिया—'सठ सन बिनय।' दुष्ट के प्रति विनय ठीक नहीं। पढ़कर बड़ा अटपटा लगता है। विभीषण ने कहा था कि कुलगुरु हैं। भगवान् मान गए थे। भगवान् ने अब अपनी ओर से उसको दुष्ट कह दिया तो पहले गुरु माने बाद में दुष्ट माने—साधना का सर्वस्व इसमें छिपा हुआ है, एक सन्देश छिपा हुआ है।

यदि मनुष्य इस शरीर के चारों ओर के घेरे में द्वार ढूँढ़ ले तो वह धन्य हो जाएगा। उसमें वह जो 'मोच्छ कर द्वारा' है, प्रभु ने उसके चारों ओर के घेरे में भी एक मुक्ति का दरवाजा बना रखा है। उस द्वार को जिसने पा लिया, वह धन्य हो गया। मानो यह जो शरीर है इसे पुरुष कहते हैं तो पुरुषार्थ आवश्यक है। शरीर है तो यह साधन के लिए मिला ही हुआ है। लेकिन कृपा का इस सन्दर्भ में अपना महत्त्व है। भगवान् ने उसके लिए बड़ा अच्छा दृष्टान्त दिया कि मनुष्य का यह शरीर मानो जहाज है और इस जहाज के साथ जो सद्‌गुरु है, वही मल्लाह है। इसका अभिप्राय है कि गुरु के आदेश से शिष्य साधन करता है। इसलिए गुरु शरीर के लिए जो साधन बता रहा है, वह साधन करना चाहिए। लेकिन एक बात आप ध्यान

रखिएगा—भगवान् अपनी कृपा का महत्त्व कम बताते हैं। भक्त लोग उनकी कृपा का महत्त्व अधिक बताते हैं। इसमें रहस्य है। भगवान् से पूछा गया कि महाराज, गुरु हो गया कर्णधार और शरीर हो गया जहाज और आप! तो भगवान् ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया। आप पुरानी नौकाओं में देखेंगे कि ऊपर कपड़े का एक पाल लगा रहता था, कपड़े का एक विशाल परदा। जब नाव खड़ी रहती थी तो मल्लाह उसे नीचे गिराए रखता था। यात्रा के समय नाव खेते हुए हवा यदि उसके अनुकूल है, ऐसी स्थिति में वह पाल उठा देता है जिससे नाव स्वाभाविक रूप से और भी अधिक तीव्र गति से बढ़ने लगती है और हवा यदि विपरीत दिशा से आ रही है तो उसे नाव खेने में अधिक श्रम करना पड़ता है, तब नाव कठिनाई से आगे बढ़ती है। नाव का दृष्टान्त देते प्रभु ने कहा—'करनधार सदगुर दृढ़ नावा' और तब—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥७/४३/७

मेरी कृपा ही वायु है। जैसे वायु सामने नहीं आ रही है, उसके द्वारा नाव को गति मिलती है। मानो भगवान् का तात्पर्य यह था कि गुरुदेव के प्रति श्रद्धायुक्त होकर साधक साधन करता है तो साधन करके मेरी कृपा अदृश्य रहकर भी उसे गति देती है, उसे लक्ष्य की दिशा में बढ़ाती है। मानो इस प्रसङ्ग में भगवान् ने दोनों सङ्केत कर दिए—साधना की अपेक्षा और उसमें प्रभु की कृपा की सहायता और उसके द्वारा जो व्यक्ति—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥७/४४

भगवान् का यह उपदेश समस्त मानव जाति के लिए उपयोगी है और इसका अभिप्राय यह है कि जो करने योग्य है वे साधन आपको और हमें करने हैं। कृपा तो हमारे काम की वस्तु नहीं है, कृपा हमें तो करनी नहीं है, कृपा तो उनको करनी है। मानो भगवान् ने कहा कि तुम अपना काम करो, हमारा काम हम पर छोड़ दो। तुम अपना काम करोगे तो मैं अपना काम करूँगा। मानो प्रभु ने कृपा और साधना के साथ मनुष्य को साधन का उपदेश दिया। मानो यह साधना और कृपा जो पुरुषार्थ और कृपा ही हैं, परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे किसी से यह पूछा जाए कि माता और पिता में कौन बड़ा है? किसको बड़ा बताया जाएगा? और याद

रखिएगा भगवान् की कृपा माँ है तो साधन पिता है। इसका अभिप्राय है कि माँ बच्चे को सदा प्यार देती है, पर पिता कहते हैं बेटा, कुछ बनो, उन्नति करो, केवल प्यार ही मत पाते रहो। जैसे माँ का स्नेह और पिता के द्वारा पुत्र को जो प्रेरित किया जाता है वह समन्वय जैसा दिखाई देता है। जो माँ का स्नेह पाने के बाद पुरुषार्थ और कर्त्तव्य का पालन करता है, वही पुत्र आगे चलकर धन्य होता है।

यह एक पक्ष है, जिसकी चर्चा आज की गई। इसके अनेक पक्ष हैं। सच पूछिए तो मैं वैसे कृपावादी ही हूँ। आज कहने चला आया तो केवल कृपा का भरोसा लेकर ही, नहीं तो अस्वस्थता के कारण मन यही कहता था कि विश्राम कीजिए। लेकिन मैंने कहा नहीं भाई, जिसको कहलवाना है, शरीर माध्यम बना। मैं तो आपके सामने आकर बैठ गया और प्रभु की कृपा ने जो कहलवाया, वह कहा गया। आज बस इतना ही।

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय ॥

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

द्वितीय पुष्प

पूरे रामचरितमानस में साधना और कृपा दोनों का जो सामञ्जस्य है, विविध प्रसङ्गों के माध्यम से उसका बड़ा ही अद्‌भुत विवेचन किया गया है। 'मानस' के प्रारम्भ में जब आप भगवान् के अवतार के विषय में पढ़ते या सुनते हैं कि भगवान् का अवतार क्यों होता है तो उसमें दो प्रसङ्ग हैं। उसमें साधना और कृपा के स्वरूप का जो सूत्र है, उसमें सङ्केत किया गया है।

मनुष्य के जीवन में समस्याएँ आती ही रहती हैं। उन समस्याओं के समाधान भी ढूँढ़ने चाहिए। क्योंकि ईश्वर ने जब हमें और आपको शरीर दिया है, बुद्धि दी है और जो हमें प्राप्त है, तो यह आवश्यक है कि उसके द्वारा समस्याओं का समाधान पाने की चेष्टा करें। इसके साथ-साथ यह अनुभव भी होता है कि ऐसी भी अनेक समस्याएँ हैं जिनका हम स्वयं समाधान नहीं कर पाते। उस सन्दर्भ में दो सूत्र प्रारम्भ में आते हैं। एक ओर महाराज मनु के सन्दर्भ में साधना के पक्ष का वर्णन किया गया है। वैसे उनके जीवन में कोई कमी, कोई समस्या तो नहीं है, पर उनके हृदय में भगवत्प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है। ऐसा निश्चय हुआ तब वे यह मानकर चलते है कि जब तक भगवान् को न पा लिया जाए तब तक जीवन की पूर्णता नही है। इसलिए एक सङ्केत तो यह है कि क्या सचमुच हमारे जीवन में ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है?

ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव दो प्रकार से हो सकता है। कोई ऐसी समस्या है जिसका समाधान हम नहीं खोज पा रहे हैं और दूसरा व्यक्ति वह है जिसके सामने कोई समस्या तो नहीं है, पर विवेक से उसे पता है कि जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। स्वाभाविक रूप से दोनों में भिन्नता है। मनु का चरित्र पुरुषार्थ और साधना का अद्‌भुत दृष्टान्त है। यद्यपि इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि कृपा और पुरुषार्थ में कोई ऐसी

विभाजक रेखा नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यहाँ तक साधना और उसके बाद कृपा। क्योंकि साधना के सम्बन्ध में तो आप इसे स्पष्ट समझते हैं और अनुभव करते हैं कि साधन के लिए जो सामर्थ्य चाहिए वह सामर्थ्य तो प्रत्येक व्यक्ति में एक जैसी नहीं होती। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति यदि साधना भी करने चलेगा तो उसमें जो सामर्थ्य है उसके माध्यम से ही तो वह साधन करेगा। इसलिए आप पढ़ते हैं कि ध्रुव को पाँच वर्ष की अवस्था में ही भगवान् का दर्शन हुआ और दूसरी ओर मानस में ईश्वर के दर्शन के लिए महाराज मनु ने न जाने कितने हजार वर्ष व्यतीत कर दिए। दूसरी ओर ध्रुव के जीवन में विमाता के दुर्व्यवहार से जनित एक अमर्ष था।

यह परम्परा भी मनु से सम्बद्ध है। आप मनु के वंश का जो वर्णन पढ़ते हैं उसमें यह नाम भी आपको मिलेगा, गोस्वामीजी कहते हैं—

स्वायंभु मनु अरु सतरूपा।
जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरन नीका।
अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥१/१४१/१-२

उसके बाद वहाँ पर कहा गया—'नृप उत्तानपाद सुत तासू।' उन महाराज के पुत्र का नाम है उत्तानपाद। फिर उसके बाद वहाँ वाक्य आता है—'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू।' यह उत्तानपाद महाराज मनु के पुत्र हैं। सुनीति और सुरुचि उनकी दो रानियाँ हैं। जीवन में आवश्यकता तो दोनों की ही है। इतना होते हुए भी यह निर्णय तो करना ही है कि सुनीति और सुरुचि में से हम किसे अधिक महत्त्व दें। यों सुनीति राजा उत्तानपाद की बड़ी रानी हैं और सुरुचि छोटी रानी। आपके और हमारे जीवन में भी दो बातें आती हैं। एक जिसे हम रुचि कहते हैं और दूसरी जिसे नीति का नाम देते हैं। रुचि का अर्थ है जो हमें स्वादिष्ट लगता है, प्रिय लगता है, उसे हम कहेंगे कि यह हमारी रुचि की वस्तु है। तो जो स्वादिष्ट प्रतीत होता है वह तो सुरुचि है ही और व्यक्ति के जीवन में उसका आकर्षण भी बहुत है। किन्तु व्यक्ति यदि विवेकी है तो उसे यह समझ में आना चाहिए कि रुचि को व्यक्ति यदि जीवन में अत्यधिक महत्त्व दे दे और नीति और विवेक का परित्याग कर दे तो जीवन में विपत्ति आएगी, रोग आएगा, सङ्कट आएगा। यही मानवीय प्रकृति उत्तानपाद के जीवन में भी दिखाई देती है। बड़ी रानी सुनीति को जीवन में सम्मान देते हुए भी सुरुचि उनको जितनी प्रिय हैं उतनी

सुनीति नहीं। ध्रुव का जन्म इन सुनीति के गर्भ से ही है। अब यह जो प्रसङ्ग आता है उसमें सङ्केत यही है। ध्रुव अपने पिता की ओर बढ़ते हैं और पिता उनको गोद ले लेते हैं। विमाता सुरुचि को यह प्रिय नहीं लगता और वे ध्रुव को पिता उत्तानपाद की गोद से उतार देती हैं और उसके साथ-साथ उन्होंने बड़े गर्व से कहा कि महाराज की गोद में पहुँचने के लिए तुम्हें मेरे गर्भ से जन्म लेना चाहिए था। सुरुचि के इस अभिमान से ध्रुव अपमानित होते हैं। बालक को कष्ट होता है और वे माँ के पास जाते हैं। पर माँ तो सुनीति है। उनका अन्तःकरण विवेक से भरा हुआ है। उन्होंने यही कहा कि ठीक ही है, तुम्हारी विमाता को विशेष महत्त्व प्राप्त है। यदि भविष्य में कोई स्थान पाना चाहते हो तो तुम्हें भगवान् को पाने का प्रयत्न करना चाहिए, भगवान् को प्रसन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए।

इस घटना का तात्पर्य है कि इसके मूल में कामना है और कामना के पीछे तुलना है और अपमानित होने की एक वृत्ति है। यह वृत्ति बच्चों में, बड़ों में, सबमें दिखाई देती है। अपमानित तो अनेक लोग होते हैं, तिरस्कृत किया ही जाता है। तुलना में, लेकिन सभी लोग भगवान् की दिशा में नहीं मुड़ते। उनके हृदय में तो बदला लेने की भावना जाग्रत होगी। और आगे बढ़कर कैसे मैं इसका बदला लूँ इसी वृत्ति से वह व्यक्ति आगे बढ़ता है।

वस्तुतः सुनीति के लिए रामायण में सुन्दर नीति का जो अर्थ है वह केवल राजसत्ता से ही जुड़ा हुआ नहीं है। आप पाएँगे कि गोस्वामीजी कहते हैं—

नीति निपुन सोइ परम सयाना।
श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा।
जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥७/१२६/३-४

यह बड़े महत्त्व का सङ्केत है। नीति का उद्देश्य राज्य पाना है, राज्य की रक्षा है। रामायण में भी यह वाक्य आया है कि—'राज कि रहै नीति के जाने।' जब तक व्यक्ति नीतिपूर्ण राज्य नहीं करेगा तब तक उसका राज्य स्थिर नहीं हो सकेगा। तो स्वाभाविक रूप से नीति का जो स्थूल उद्देश्य है वह सत्ता पाना और पद स्थिर रखना है। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि नहीं, सचमुच नीतिवान् तो वह है जो भगवान् के चरणों में प्रेम करता है। इसका अभिप्राय

यही है कि कोई कितना भी बड़ा नीतिज्ञ क्यों न हो, बड़ी चतुराई से कोई पद पा ले और बहुत दिन तक पद सुरक्षित रखे, लेकिन कभी-न-कभी तो व्यक्ति को उससे अलग होना पड़ता है। क्यों? क्योंकि यदि आपने नीति का आश्रय लिया तो आपका जो प्रतिद्वन्द्वी होगा, कोई विरोधी होगा, वह भी आपको नीति के द्वारा हराने की चेष्टा करेगा। आपकी नीति सफल हुई तो आप सफल हो गए और आपके विरोधी की नीति सफल हुई तो वह सफल हो गया। तो इसका तात्पर्य गोस्वामीजी के शब्दों में यह है कि यदि नीति के द्वारा कोई पद, राजपद प्राप्त होता है तो ठीक है। पर भगवान् का पद जो है, वही एक ऐसा पद है जहाँ पर यह भय नहीं है। तो नीति की सार्थकता केवल सांसारिक पद पाना नहीं है, अपितु भगवान् का पद पा लेना है।

प्राचीन काल में जब राजा लोग प्रसन्न होते थे तो जागीरदार बना देते थे, किसी विशेष स्थान का राजा बना देते थे। अब रामचरितमानस में तो सबसे अधिक बड़ी सेवा तो हनुमान्जी के द्वारा हुई। और प्रभु तो उदार हैं, देने में। सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य दे दिया, विभीषण को लङ्का का राज्य दे दिया, पर हनुमान्जी को कोई राज्य तो नहीं मिला। लेकिन बड़ी मीठी बात आती है, जब माँ के पास लङ्का-विजय का समाचार लेकर हनुमान्जी गए तो माँ ने कहा कि तुमने इतना आनन्ददायक, इतना महत्त्वपूर्ण सन्देश सुनाया है और श्री भरतजी ने तो हनुमान्जी से यही कहा—

एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥७/१/१३

पर माँ का आग्रह तो बड़ा ही अनोखा है। कहने लगीं—

का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहीं बानी समा॥

मैं तुझे क्या दूँ, क्योंकि तुम्हारी वाणी की तुलना में देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। इस पर कितनी बढ़िया बात हनुमान्जी ने कही। कोई कह सकता है यह तो बड़ा विचित्र पक्षपात हुआ, सुग्रीव और विभीषण की सेवा कम और उन दोनों को राज्य दे दिए गए। पर हनुमान्जी की इतनी बड़ी सेवा और उन्हें कोई राज्य नहीं दिया गया। इसके विपरीत हनुमान्जी ने कहा, माँ! मुझे राज्य मिल गया। माँ ने पूछा, कहाँ का राज्य मिला? वहाँ हम एक वाक्य पाते हैं। हनुमानजी कहते हैं—

सुनु मातु मैं पायो अखिल जग राजु आजु न संसयं।

सारे संसार का मैं राजा हो गया। कैसी अनोखी बात है! यह भावना की बात है। इसका अभिप्राय यह है कि सुग्रीव और विभीषण को जो पद मिला है वह किसी एक सीमित देश का मिला है लेकिन मैंने तो सारे संसार का राज्य पा लिया, वह भी इसलिए पा लिया कि आज जब मैं बन्धु सहित विजयी प्रभु के चरणों का दर्शन करता हूँ तो इससे बढ़कर मेरे लिए और क्या राज्य हो सकता है। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि यदि हम नीति के द्वारा कोई राज्य पा भी लें तो यह आवश्यक नहीं कि सदा वह उसके हाथ में ही रहे।

रामायण के एक प्रसङ्ग में प्रतापभानु ने सारे संसार पर अधिकार कर लिया, पर उसके एक प्रतिपक्षी राजा ने अवसर की प्रतीक्षा की। उससे लोगों ने कहा कि भाई यह प्रतापभानु है, सूर्य से आँख मिलाने की चेष्टा क्यों कर रहे हो? पर वह बड़ा स्वाभिमानी था। उसने कहा कि प्रतापभानु हैं तो डरने की क्या बात है। सूर्य हमेशा मध्य आकाश में ही रहता है क्या? उसमें कभी सन्ध्या आती है कि नहीं? और वह सन्ध्या आएगी तो मैं देख लूँगा। सचमुच सन्ध्या आई और वह प्रतापभानु का सर्वनाश करने में सफल हो गया। इसका अर्थ यह है कि सच्चा नीतिज्ञ तो वह है जो भगवान् के पद को पाकर इस पद से च्युत होने की कोई आकांक्षा नहीं रखता, क्योंकि यही एक अचल पद है। इसलिए जितने पद होते हैं उसमें कुछ दिनों के बाद भूतपूर्व शब्द लग जाता है या पूर्व शब्द लग जाता है, लेकिन भक्त के लिए कोई लिख दे कि ये भूतपूर्व भक्त हैं तब तो वह विचित्र व्यंग्य लगेगा। गोस्वामीजी कहते हैं कि सचमुच नीतिज्ञ तो वह है जो भगवान् के चरणों में प्रेम करता है। तो सुनीति ने मानो ध्रुव के मन की अभिलाषा को वह दिशा दे दी जिससे वे भगवान् को पाने के लिए वन की ओर प्रस्थान करते हैं।

नन्हें-से बालक ध्रुव को भगवान् के दर्शन बहुत थोड़े-समय में हो गए, जबकि वह स्तुति करना भी नहीं जानते थे। भगवान् ने अपने शङ्ख के द्वारा जब उस बालक के गाल पर स्पर्श किया तो उसकी वाणी प्रस्फुटित हुई। अपनी वाणी के द्वारा ध्रुव ने भगवान् की स्तुति की। तो ध्रुव के जीवन में भी साधना है। अन्त में वे वन में जाते ही हैं। कष्ट उठाने की चेष्टा भी वे करते ही हैं। लेकिन नन्हें बालक के इतने मात्र से ही भगवान् प्रसन्न होकर दर्शन

देते हैं, धन्य बनाते हैं। और फिर इसके पश्चात् तो यह ध्रुव शब्द अचलता का प्रतीक बन गया।

उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के सन्दर्भ में यह जो सङ्केत है इसका तात्पर्य यह कि वे भी महाराज मनु की ही सन्तान हैं, मनु के ही पुत्र हैं, पुत्र के पुत्र—पौत्र हैं। एक ओर तो यह धारा है। वहाँ प्रारम्भ में ध्रुव के मन में राज्य पाने की वासना थी या विमाता ने जो अपमान किया था, उस दुःख से दुखी थे, किन्तु मनु के जीवन में ऐसा कुछ नहीं था। मनु को तो सभी कुछ प्राप्त है। राज्य है, कोई विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। पत्नी पतिव्रता हैं, पुत्र आज्ञाकारी हैं। इतना होते हुए भी लगता है कि यह सब कुछ होते हुए भी जिसके बिना जीवन पूर्ण नहीं होता, वह तो अभी हमें नहीं मिला।

'सरिता जल जलनिधि महँ जाई'—नदी में जल है, पर इतना जल होते हुए भी नदी समुद्र की ओर क्यों जा रही है? लोग नदी की ओर जाते हैं, जल पाने के लिए पर नदी जब जल से भरी हुई है तो फिर उसको समुद्र की ओर क्यों जाना चाहिए? और इसका अर्थ है कि यह नदी मानो यह अनुभव करती है कि मुझमें भले ही जल हो पर वह घटने और बढ़ने वाला जल है। कभी वर्षा हो गई तो जल बढ़ गया, कभी गर्मी आ गई तो जल घट गया। पर जो सदा-सदा जल से परिपूर्ण समुद्र है उसमें गए बिना मुझे पूर्णता की अनुभूति नहीं होगी। इसलिए नदी समुद्र की ओर जा रही है। इसी प्रकार से मनु के जीवन में मानो विवेक का जन्म होता है कि भगवद्-प्राप्ति के बिना जीवन अधूरा है। और तब उनके जीवन में साधना का एक क्रम आता है। इसमें एक वाक्य मैं प्रारम्भ में कह दूँ और वह बड़े महत्त्व का सूत्र है। साधना इसलिए अनिवार्य है, क्योंकि साधना में नियम हैं और कृपा जो है उसमें कोई नियम और गणित है नहीं। तो उसके विषय में हम क्या चेष्टा करेंगे? साधना का गणित है, उसमें आप ऐसा-ऐसा करें तो इस साधना का फल यह होगा। पर जिसे कृपा कहते हैं आज तक उसका गणित किसी को खोजकर भी पता नहीं चला कि कृपा कब-कब होती है, किस पर होती है, कैसे होती है। और जो वस्तु अनियमित है उस पर हमारा बस नहीं है, वह तो हमें करना चाहिए। तो पुरुषार्थ और साधना का तो नियम है और उसी नियम का वर्णन आपको मनु के जीवन में मिलेगा।

मनु निश्चय करते हैं कि साधन के लिए राज्य का परित्याग करना

आवश्यक है। इसका अभिप्राय है कि राज्य का जो उद्देश्य है वह पूरा हो गया क्योंकि पुत्र को राज्य दे दिया गया और तब वे वन की ओर प्रस्थान करते हैं। मानो उसका अभिप्राय है कि साधक सबसे पहले व्यवहार से मुक्ति पा ले। जब उसके व्यावहारिक जीवन में जो उद्देश्य होते हैं वे पूरे हो गए और इतना होते हुए भी पूर्णता की अनुभूति नहीं हो रही है तब उसे छोड़कर वे प्रस्थान करते हैं और उसके बाद आप साधना का एक बड़ा सुन्दर क्रम पाएँगे। तब मनु कहाँ जाते हैं? 'तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत' और शब्द क्या है? 'साधक सिधि दाता।' नैमिषारण्य वह तीर्थ है जो साधकों को सिद्धि देनेवाला है। ये अलग-अलग जो तीर्थ हैं उनका अलग-अलग महत्त्व है। तीर्थों के वर्णन में सब धामों का जो महत्त्व बताया गया है उसमें अन्तर है। पर नैमिषारण्य की विशेषता बताई गई है कि वह साधकों को सिद्धि देनेवाला है। जैसे काशी है, उसका सम्बन्ध साधना से नहीं है। काशी में जो मुक्ति मिलती है, व्यक्ति को वह किसी साधना या योग्यता के परिणामस्वरूप नहीं मिलती। वह तो व्यक्ति को जो गति साधना के द्वारा मिलती है उसका महत्त्व अलग है। भगवान् शङ्कर की नगरी इस काशी के सम्बन्ध में गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में कहते हैं—

बेद-बिदित तेहि पद पुरारि-पुर, कीट पतंग समाहीं।

आपके धाम में तो जो कीट और पतङ्ग हैं वे भी मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं। इसलिए गोस्वामीजी ने जब काशी की वन्दना की तो यही कहकर की—

मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न।।४ / प्र. सो.

तो इस मुक्तिदात्री काशी का सम्बन्ध साधना से नहीं है। लेकिन नैमिषारण्य का सम्बन्ध साधना से है।

आप पुराणों की जितनी कथाएँ सुनते हैं उनमें यह वर्णन आता है कि सूतजी सौनक को, सभी मुनियों को कथा सुनाते हैं। तो कथा का उद्देश्य व्यक्ति को साधना की ओर प्रवृत्त करना है, साधना की दिशा देना है। इसलिए उन्होंने जो तीर्थ का चुनाव किया; अब इसका स्पष्ट अर्थ है, वे अयोध्या नहीं गए अथवा किसी अन्य भूमि में नहीं गए। श्रीराम का दर्शन हुआ तो वे अयोध्या भी जा सकते थे, पर नहीं। पहले वे नैमिषारण्य में जाते हैं, क्योंकि वह साधकों को सिद्धि देनेवाली है। वहाँ जो एक नदी बहती है

वह कौन-सी है? 'पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा'। वैसे तो उसका नाम गोमती है, पर गोस्वामीजी ने गोमती के स्थान पर धेनुमती कर दिया। अब यदि आप यों देखें तो किसी नगर का पता उसका अर्थ बनाकर लिखेंगे तो अनर्थ हो जाएगा। आप यदि किसी नगर के लिए जैसे कानपुर है और उसके लिए लिख दें कर्णपुर, तो वह पता तो डाकिए को समझ में नहीं आएगा। वह तो कहेगा कि यह कर्णपुर क्या बला है? और भी अधिक बनाने के लिए कह दें कि श्रुतिपुर। भई, नियम तो यही है कि जो नगर का नाम या नदी का नाम है वही लेना चाहिए पर गोस्वामीजी ने जान-बूझकर थोड़ा-सा बदल कर ले लिया। धेनु कहते हैं गाय को। अब इस धेनु का सूत्र आपको उत्तरकाण्ड के ज्ञानदीपक प्रसङ्ग में मिलेगा। जब कोई व्यक्ति साधना के लिए चलेगा तब गोस्वामीजी कहते हैं, 'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई।'

सबसे पहले व्यक्ति के हृदय में सात्त्विक श्रद्धा आनी चाहिए। श्रद्धा बुद्धि में आती है, बुद्धि का धर्म है। यदि वह सचमुच सात्त्विक श्रद्धा है तो साधना का सबसे पहला श्रीगणेश इसी श्रद्धा के उदय से होगा। और वहाँ जाने के बाद, 'हरषि नहाने निरमल नीरा।' निर्मल नीर में स्नान किया। तो अब तक क्या महाराज गन्दी नदी में नहाते थे? घर में जिस जल से नहाते थे, वह जल क्या निर्मल नहीं होता था। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है। एक निर्मलता वह होती है कि जल में कोई बाहरी गन्दगी न हो। पर साधना के सन्दर्भ में जो निर्मल जल है वह बहुत भिन्न प्रकार की वस्तु है। साधना के जल में जो मल है, इसे यों कह सकते हैं कि जैसे कोई अच्छी वस्तु है, कोई बुरी वस्तु है तो आप कहेंगे कि अच्छा है या गन्दा है और जल में कोई अच्छी वस्तु डाल दी जाए तो आप कहेंगे अच्छा जल है, पर वह निर्मल जल नहीं है क्योंकि उसमें और कोई वस्तु मिला दी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध श्रद्धा। जिस श्रद्धा में कोई भी कामना न हो, जिस श्रद्धा में मनुष्य के जीवन में और कुछ पाने की इच्छा न हो। जो कामना करते हैं वे भी तो श्रद्धा का आश्रय लेते हैं। पर वह जो भगवान् को पाना चाहता है उसके लिए जिस निर्मल जल की आवश्यकता है वह तो इस संसार में दिखाई नहीं देता—

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।
घृत कि पाव कोइ बारि बिलाएँ।।

इसलिए

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई ॥७/४८/५-६

बाहरवाला मल नहीं अन्दर वाला मल भी जहाँ न हो।

सात्विक श्रद्धालु पहले अपनी बुद्धि को शुद्ध बनाए, निर्मल बनाए। उसके पश्चात् मनु मुनियों के आश्रम में जाते हैं—'हरषि नहाने निरमल नीरा।' और जब महात्माओं ने सुना कि महाराज मनु राज्य छोड़कर भगवद् प्राप्ति के लिए वन में आए हैं तो उनसे मिलने के लिए बड़े-बड़े महामुनि आते हैं। वैसे तो राजा ही उनके पास जाता था लेकिन आज जब राजा भगवान् को पाने के लिए आए हुए हैं तो गोस्वामीजी ने कहा—

आए मिलन सिद्ध मुनि ग्यानी।
धरम धुरंधर नृपरिषि जानी ॥१/१४२/६

आज राजर्षि का आगमन हुआ जो भगवान् को पाने के लिए आया हुआ है। मानो जब तक वे राजा थे तब तक उनका वह सम्मान नहीं था और आज जब वे भगवान् को पाने के लिए चलते हैं तो उनका मुनियों के द्वारा स्वागत होता है। महाराज जसवन्तसिंह राजस्थान के एक राजा थे। उनके पद बड़े मधुर हैं। ब्रजभाषा में लिखे अपने पदों में वे अपने को नागरीदास लिखते रहे। इन्हीं नागरीदास के पद वृन्दावन के सन्तों में बड़े प्रिय थे, पर उनसे परिचय नहीं था। नागरीदास के मन में कृष्ण की भूमि में रहने की इच्छा हुई और वहाँ रहने के लिए जब आप राज्य छोड़कर गए तो नागरीदास ने वर्णन किया कि—'सुनि व्यवहारिक नाम मम ठाढ़े दूरि उदास।' जब वहाँ के साधुओं ने सुना कि राजा जसवन्तसिंह आए हुए हैं तो दूर खड़े रह गए कि राजा से क्या लेना-देना? राजा से कुछ पाना हो वह राजा के पास जाए। पर किसी ने जब कह दिया कि अरे वे नागरीदास हैं जिनके पद यहाँ गाए जाते हैं, ये वही हैं तो कहते हैं—

सुनि व्यवहारिक नाम मम ठाढ़े दूरि उदास।
मिले हरषि हिय जानि जिय नाम नागरीदास ॥

भले ही वे राजा थे, जिन्हें कुछ पाना होता है राजा से, वे बड़े प्रसन्न हो जाते हैं कि राजा से भेंट हो गई। पर जिसे कुछ चाहिए ही नहीं, उसे राजा से क्या लेना। आज मानो मुनियों को जब यह ज्ञात हुआ कि ईश्वर की प्राप्ति के

लिए जो साधक आया हुआ है उस भावना से वे आते हैं, महाराज का स्वागत करते हैं और फिर साधना का क्रम प्रारम्भ होता है।

सबसे पहले मुनियों से उन्होंने पूछा, मैं भगवान् का दर्शन पाना चाहता हूँ, मुझे क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा कि आप पहले जो तीर्थ हैं—नैमिषारण्य तीर्थ उसके आसपास के क्षेत्रों में, वहाँ की तीर्थयात्रा कीजिए—

जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए ॥१/१४२/७

मानो यही साधना का क्रम है। ये तीर्थयात्रा आदि एक तो परम्पर्या है, हमारे देश में तीर्थों में जाने की परम्परा है। उसका भी बड़ा महत्त्व है। फिर भी एक तीर्थयात्रा ऐसी है जिसका उद्देश्य केवल परम्परा और पुण्य न होकर और भी ऊँचे लक्ष्य को पाना है।

विनय-पत्रिका के एक पद में गोस्वामीजी सङ्केत करते हैं। साधना में श्रम होता है कि नहीं? थकान होती है कि नहीं? साधना में श्रम होना आवश्यक है। कृपा तक पहुँचने के लिए श्रम की आवश्यकता है। तो गोस्वामीजी कहते हैं कि हम लोग जीवनभर श्रम-ही-श्रम तो करते हैं। विनयपत्रिका का यह पद बड़ा सुन्दर है। दृष्टान्त उन्होंने यह दिया कि जैसे नदियों में जो जल होता है उसमें तो मौसम बदलने पर जल की गन्दगी नीचे बैठ जाती है, पर बरसात में सड़कों में जो गड्ढे होते हैं, उसमें जो जल एकत्र होता है उसकी क्या हालत होती है। मान लीजिए एक व्यक्ति गया, जल पहले से गन्दा होता है, उसके पैर पड़ते ही नीचे का कीचड़ ऊपर आ गया और वह व्यक्ति चला गया। तब मिट्टी नीचे बैठने लगी, लेकिन उसी समय दूसरा व्यक्ति आ गया। तो गोस्वामीजी ने दृष्टान्त क्या दिया? हम लोगों का जो अन्तःकरण है, वह नदी के जल की तरह नहीं है। तो बोले—

सदा मलिन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदयँ थिराने।

रास्ते का गड्ढे वाला जल, एक कामना आई। वह पूरी हुई तो लगा कि अब गन्दगी बैठने लगी, पर दूसरी, फिर तीसरी। अब यह जो—

सदा मलिन के पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।

इस तरह से चञ्चल बना रहा। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि थकना ही है तो—

चञ्चल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।

हम कहाँ-कहाँ नहीं भटक रहे हैं—अपने चरणों के द्वारा लोग और लालच के लिए और थक रहे हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि चलकर थकना ही है तो हम लोगों के द्वार पर लालच में जाएँ इसके स्थान पर—

चञ्चल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।
राम-सीय-आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥

—विनय-पत्रिका, १७०/६

वह बड़ा अभागा है। भगवान् के श्रीचरण जिस तीर्थ पर गए हैं वहाँ जो तीर्थयात्रा कर रहा है और उसमें जो थकान आ रही है। और वहाँ जो नहीं थकते, वे अभागे हैं। तीर्थों में ऐसा नियम है कि वाहन छोड़कर तीर्थ की परिक्रमा करना है, तीर्थ में भ्रमण करना है। तो मानो उसमें साधना का क्रम है।

शरीर की साधना, मन की साधना, बुद्धि की साधना, अन्तःकरण की साधना। तो मुनियों ने उनका क्रम बताया कि पहले तीर्थों की यात्रा कीजिए। और तीर्थों में जब जाएँ तो नियम है कि तीर्थ की महिमा सुनिए। उस तीर्थ की महिमा सुनने से यह होगा कि उस तीर्थ की महिमा की जो कथाएँ होती हैं उन कथाओं में आपको बहुत-से अनमोल सूत्र मिलेंगे। इसलिए गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम जब वन की ओर जा रहे थे तो साथ में लक्ष्मणजी, श्री किशोरीजी, श्री सुमन्त्रजी चल रहे थे। गङ्गा की धारा जब सामने आई, अब तक तो प्रभु पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए रथ पर बैठ गए थे, पर भगवान् राम ने एक ऐसा अवसर देखा कि—

उतरे राम देवसरि देखी।
कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी॥२/८६/२

प्रभु रथ से उतरकर गङ्गा को साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं। फिर भगवान् गङ्गा के किनारे खड़े होकर गङ्गा की लहरों को देखते हैं। वहाँ गोस्वामीजी ने लिखा एक-एक लहर उठ रही है और भगवान् राम को गङ्गा से जुड़ी कथाओं का स्मरण आ रहा है। गङ्गा कैसे आई, गङ्गा कहाँ थी, गङ्गा का जन्म कैसे हुआ, भगवान् राम स्नान करने से पहले—

कहि-कहि कोटिक कथा प्रसंगा।
रामु बिलोकहिं गंग तरंगा॥२/८६/५

यह सङ्केत है कि तीर्थ में जाने का केवल इतना ही फल नहीं है कि व्यक्ति

तीर्थ में स्नान कर ले, दर्शन कर ले। पहले उस कथा को सुनें और उस कथा में जो सन्देश है उसे जीवन में उतारने की चेष्टा करें।

तीर्थयात्रा के दो फल हुए। एक तो चरण से यात्रा की। चरण का तप हुआ, शरीर का श्रम हुआ। और वहाँ जाकर जो कथाएँ हम सुनेंगे, जो महिमा सुनेंगे उस महिमा में हमें साधना का सन्देश मिलेगा। शास्त्र इस सन्दर्भ में बहुत बढ़िया बात कहते हैं कि जिस तीर्थ में जाइए उसी की महिमा सुनिए, दूसरे तीर्थ की नहीं। उसका अर्थ क्या हुआ? कि जब आप आए हैं तो उस तीर्थ का सन्देश छोड़कर दूसरी ओर मन ले जाएँ तब तो आप सही साधक नहीं हैं। इसलिए मुनियों ने उन्हें तीर्थयात्रा का आदेश दिया। और उसके बाद 'कृस सरीर मुनिपट परिधाना।' अब तीर्थयात्रा के बाद कथा सुनने लगे— 'सत समाज नित सुनहिं पुराना।' पुराणों की कथा सुनने लगे। मानो वही व्यक्ति राजा के रूप में तीर्थयात्रा कर चुके हैं, पुराणों की कथा सुन चुके हैं। लेकिन उन पुराणों में राजा जो कथा सुनता है तब उसे दूसरा सन्देश मिलता है और जब ईश्वर की प्राप्ति के लिए उसे सुनता है तो दूसरा सन्देश प्राप्त होता है। इस प्रकार मानो क्रम है—श्रद्धा, अन्तःकरण की निर्मलता और मनुष्य के जीवन में जो शरीर का श्रम है उसका सदुपयोग और कथा-श्रवण के बाद। जब आप कथाएँ सुनेंगे तब कथा सुनने के बाद आपके सामने चुनाव करने का एक अवसर होगा। कथाएँ तो अनेक होंगी और उन कथाओं में से जो साधक हैं वे अपने लिए कथा चुन लें कि मेरे लिए ऐसी कौन-सी कथा है जिसका उपयोग हम अपने जीवन में कर सकते हैं। तब गोस्वामीजी ने कहा कि जब पुराण की कथा हमने सुन ली तो अब? पुराण में विस्तार है। अब साधना जो है वह विस्तार से धीरे-धीरे संक्षेप की ओर जा रही है।

यह बड़ी अनोखी बात है कि जैसे-जैसे रामायण-पाठ करें उसका फल बहुत बड़ा है। लेकिन रामायण-पाठ से भी आगे यदि राम-नाम का जप करें तो उसका फल और भी अधिक है। इसका अभिप्राय यह है कि जो बहिरङ्ग आवश्यकताएँ हैं, जिनके द्वारा हम आकर्षण पाते हैं वह मिटकर, जब उस वस्तु में जो स्वाद है, जैसे भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का भी प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन व्यक्ति यदि शुद्ध सात्त्विक भोजन करेगा तो धीरे-धीरे उसकी आवश्यकता कम होती जाएगी। इसका अभिप्राय है कि जब आप कथा-श्रवण करते हैं तो उसमें बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो मसाले

की तरह उपयोग की जाती हैं। आजकल तो मसाला ही ज्यादा प्रयोग किया जाता है क्योंकि श्रोता भी मसाले के ही हैं। उनको कथा में, सात्त्विक रूप से उतना आनन्द नहीं आता।

राम-नाम में जब बिना चटपटे मसाले के आनन्द आने लगे तब…। राम-नाम में कोई साहित्य तो है नहीं, उसमें कोई चरित्र भी नहीं है, घटना भी नहीं है और कोई कार्य भी नहीं है। उसके बाद भी यदि राम-नाम में रस आने लगा तो समझ लीजिए कि अब कोई बाह्य आलम्बन चाहिए ही नहीं। तो साधना का फल यही होता है कि धीरे-धीरे बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा मिटती जाती है और उसके बाद मानो व्यक्ति धीरे-धीरे सिमटकर जो मूल केन्द्र है उसमें अपने आपको प्रतिष्ठित करता है। इसीलिए मनु के जीवन में कथा के बाद 'मन्त्र जाप' है। मन्त्र माने जहाँ एक ही शब्द की आवृत्ति बार-बार हो रही है। एक ही अक्षर की बार-बार आवृत्ति हो रही है। एक सज्जन कहने लगे ये कीर्त्तन वाले क्या कीर्त्तन करते रहते हैं? बार-बार झांझ पीटते रहते हैं। राम-राम-राम सुनकर क्या भगवान् के कान पक नहीं जाते? हमने कहा कि आपके कान की तरह उनके कान इतने कमजोर नहीं हैं। भगवान् के यहाँ यह जो दिव्य स्वर, इसमें जो दिव्य क्षमता है, ये जो मन्त्र है उसके बार-बार उच्चारण से, मन्त्र-जाप से साधना के केन्द्र में पहुँचा जाता है।

नवधा भक्ति के क्रम में भगवान् बताते हैं—'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।' सन्तों का सङ्ग कीजिए। सन्तों के सङ्ग से क्या होगा? बोले—'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।' कथा में रति। सतसङ्ग माने? जहाँ जाकर हम भगवान् की कथा सुनें। और उसके बाद?—'गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।' अनेक सन्तों से अनेक कथा सुनने के बाद अपने लिए एक कथा का चुनाव ही गुरु का वरण है और मानो वह तीसरी भक्ति का क्रम है। पहले सन्त बहुवचन है, सन्तों के द्वारा कथा सुनी गई, फिर 'गुर पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।' अमान होकर गुरु के चरणों की सेवा—यह तीसरी भक्ति है। और तब भगवान् राम शबरीजी के सामने जो साधन बताते हैं, एक तो उन्होंने कहा—गाओ। 'चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।' मेरे जो गुण हैं उनका गायन करो, कपट छोड़कर। बहुत बड़ा सूत्र है। गायन का उद्देश्य यदि यह हो कि देखें सुननेवाला कितना प्रभावित हो रहा है

तो आपको आनन्द आएगा—लोगों को आनन्दित देखकर। लेकिन उद्देश्य यदि केवल भगवान् को रिझाना है तो वह सही अर्थों में कपटरहित गान है। तो एक तो भगवान् के गुणों का गायन और दूसरा? अब वह जो केन्द्र में भक्ति है वह क्या है? केन्द्र में वह भक्ति है जिसको पाँचवीं भक्ति कहते हैं। चार भक्ति पहले, चार भक्ति बाद में और केन्द्र में पाँचवीं भक्ति कौन-सी है? बोले—'मन्त्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।' मन्त्र का जो जप है वह विश्वासपूर्वक होना चाहिए—यह मेरी पाँचवीं भक्ति है। तो जप का यह मन्त्र ऐसा है जो दोनों दिशाओं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में है। यह अन्तःकरण की शुद्धि में, मन की एकाग्रता में, बुद्धि की पवित्रता में एक ऐसा अद्भुत साधन है कि साधक जब तन्मय हो जाता है, जप करते-करते तो 'जपस्तदर्थ-भावनं।' दृढ़ विश्वास के बाद उसके मन में जो-जो परिवर्तन होता है उसका वर्णन अगली चार पंक्तियों में किया गया है। इसलिए महाराज मनु अब मन्त्र-जाप करते हैं—

द्वादस अच्छर मन्त्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥१/१४३

और तब गोस्वामीजी ने कहा—

करहिं अहार साक फल कंदा।
सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥१/१४३/१

मानो सङ्केत यह है कि मनु की आयु बड़ी लम्बी है। मनु में सामर्थ्य भी बहुत अधिक है तो ध्रुव में सामर्थ्य की कमी है। इसलिए उसकी साधना थोड़े में ही पूरी हो जाती है और मनु में सामर्थ्य बहुत है। इसलिए साधना भी बहुत लम्बी है। उसके बाद आप पढ़ते हैं कि कैसे उन्होंने अन्न छोड़कर फल, फल छोड़कर जल, जल छोड़कर फिर वायु। इस तरह कठिन-से-कठिनतर साधना का वर्णन किया गया है। मानो इस क्रम में शरीर में तपस्या, मन्त्र का जप, अन्तःकरण की शुद्धि—

पुनि हरि हेतु करन तप लागे।
बारि अधार मूल फल त्यागे॥१/१४३/२

और उसका परिणाम क्या हुआ? इतनी परिश्रमपूर्ण साधना के बाद गोस्वामीजी कहते हैं अभिलाषा बढ़ती ही जा रही है—'उर अभिलाष निरंतर होई।' यह बहुत आवश्यक है। साधन करते-करते यदि कोई, कोई क्या

अधिकांश साधक थक जाते हैं—'अरे भई इतने, दिन किया, क्या हुआ ? कुछ नहीं, सब बेकार है।' पर साधना में शरीर की शक्ति भले कम हो पर उत्कण्ठा बढ़ती जाए, हमारी चाह बढ़ती जाए—'उर अभिलाष निरंतर होई।' निरन्तर माने ? यह नहीं कि एक अभिलाषा मन में लेकर चले और बीच में कोई दूसरी अभिलाषा आ गई, तो—

उर अभिलाष निरंतर होई।
देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥१/१४३/३

यहाँ पर वर्णन करते हैं कि मनु चिन्तन करते हैं। ब्रह्म कौन है ? इस बीच उनको दर्शन देने के लिए अनेक रूप सामने आते हैं, पर वे विचलित नहीं होते। उसमें यह विवाद नहीं है कि वे जो रूप थे उसमें कोई कमी थी या भगवान् का ही रूप था या नहीं। वे रूप भी महान् थे, पर कोई भी रूप क्यों न हो, आपके अन्तःकरण में जिस रूप के प्रति आकर्षण है, आप उसी दिशा में बढ़ेंगे। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में आने के बाद भी मनु उनसे कुछ याचना करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। और तब एक स्थिति आती है, 'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।' शरीर में केवल हड्डी-ही-हड्डी रह गई, लेकिन— 'तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा।' मन में कहीं शरीर का भान नहीं है। देह-भाव से ऊपर उठ गए हैं। देह-भाव की वृत्ति मिट गई है। और तब आकाशवाणी होती है और वहाँ पर प्रश्न आता है 'मागु मागु बरु भै नभ बानी।' बस यहीं गोस्वामीजी ने कहा कि साधना की सीमा समाप्त हो गई।

साधना के द्वारा सब कुछ पाया जा सकता है, लेकिन भगवान् को सीधे केवल साधना के बल से नहीं पाया जा सकता। साधना के द्वारा हम अपने अन्तःकरण को शुद्ध बनाते हैं, अपने जीवन को पवित्र बनाते हैं। पर अन्त में गोस्वामीजी जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, वह शब्द है कृपा। क्या? गोस्वामीजी कहते हैं—'मागु मागु बरु भै नभ बानी।' और वह वाणी कैसी थी ? 'परम गंभीर', अत्यन्त गम्भीर। और अगला वाक्य है—'कृपामृत सानी'—कृपा के अमृत से भरा है और बहुत बढ़िया प्रभाव पड़ा। जैसे ही आकाशवाणी से शब्द कान में पड़ा तो—'हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए।' जितने मोटे-ताजे राजा के रूप में थे, बिल्कुल वैसे ही हो गए। कितना बड़ा सूत्र है ? जब हड्डी-हड्डी दिख रहे थे तब भी तो भगवान् दर्शन दे सकते थे। पर पहले भगवान् ने उनके शरीर को पूर्ववत् कर दिया जैसे वे घर से आएं थे।

गोस्वामीजी कहते हैं कि उनको देखकर यह लगने लगा कि 'मानहुँ अबहिं भवन ते आए।' उस मनु को देखकर यह लग रहा था कि ये अभी घर से चले आ रहे हैं। मानो सङ्केत यह है कि साधना के द्वारा व्यक्ति बहुत-कुछ पा सकता है लेकिन भगवान् की प्राप्ति साधना के द्वारा नहीं हो सकती। साधना के द्वारा हमें जो भगवान् की प्राप्ति और उसके आनन्द की जो परीक्षा है, उसके सन्दर्भ में योग्यता प्राप्त होती है। अब जो दर्शन मिलेगा वह तो शुद्ध कृपा से मिलेगा, क्योंकि बाजार में जो वस्तु बिकती है उसका दाम निश्चित होता है, पर जो वस्तु बिकती नहीं है ? अब नल से आप पानी लेते हैं उसका दाम है, पर बादल से जो पानी गिरता है उसका क्या दाम है कि इतना बरसेगा तो इतना दाम आप चुकाएँगे। तो मानो अब वह जो वाणी सुनाई पड़ी वह तो कृपा-वाणी थी। मानो हड्डी देखकर यह न समझना कि इसलिए कृपा हुई है और सही बात भी तो है।

मनु की साधना हम लोगों को बड़ी लगती है और इसलिए लगती है कि अरे भई ! इतने हजार वर्षों तक मनु ने साधना की, पर यह तो दृष्टि होती है। मच्छर जब हम लोगों को देखता होगा तो उसको यही लगता होगा कि देवता यही हैं, स्वर्ग में रह रहे हैं और ये अमर हैं। बेचारे थोड़ी देर में मरनेवाले मच्छर, रायपुर में जिनकी बहुतायत है, वह तो आपको अमर मानता होगा। पर यह सोचिए कि भगवान् की दृष्टि में व्यक्ति की साधना का गणित कैसे सिद्ध हो ? यदि आपका नन्हा-सा बच्चा आपसे यह कहे कि पिताजी, आज आप कुछ खा नहीं रहे हैं और आप कहें कि आज एकादशी है और वह भी कहे कि मैं भी एकादशी रहूँगा। फिर पाँच मिनट बाद ही वह कहे हमारी एकादशी पूरी हो गई तो आपको हँसी आए बिना नहीं रहेगी। चौबीस घण्टे की एकादशी पाँच मिनट में पूरी। अब आप इस दृष्टि से विचार करके देखिए कि मनु का साठ हजार, पैंसठ हजार वर्ष तो बड़ा लगता है तो वह हम लोगों के गणित से बड़ा लगता है। पर वहाँ का गणित तो इतना लम्बा है कि चौबीस घण्टे में पाँच मिनट जैसा होता है, उतनी भी तो मनु की साधना नहीं है। क्यों ? बोले, देवताओं की आयु पढ़िए, ब्रह्मा की आयु पढ़िए। ब्रह्मा की आयु कितनी है ? बोले, चारों युग एक हजार बार बीत जाएँ तो ब्रह्मा का एक दिन होता है या एक प्रहर होता है और इस तरह से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की है। अब भला सोचिए आयु तो निश्चित है। सौ वर्ष ब्रह्मा के हों चाहे मनुष्य के, पर सौ वर्ष मनुष्य की आयु—यह मनुष्य की दृष्टि है कि ब्रह्मा के सौ वर्ष कितने बड़े लगते हैं ? लेकिन ब्रह्माजी के सौ वर्ष पूरे

होते हैं तो शङ्करजी का एक पल होता है। अब भला सोचिए कि उस गणित में भला आप कितने दिन साधन कर रहे हैं? कितना उपवास कर रहे हैं? क्या इसकी कोई गणना हो सकती है?

मनुष्य यदि गहराई से विचार करके देखे कि जिस साधन का हम अभिमान करते हैं वह भगवान् के गणित में कहीं है ही नहीं। इस आकाश में इस पृथ्वी की कोई गणना नहीं है और वह पृथ्वी के सन्दर्भ में, विज्ञान की पुस्तकों में भी, विज्ञान की जो खोज है उसमें भी सूर्य से भी हजारों गुना और भी शक्तिशाली ग्रह, नक्षत्र आकाश में हैं। दूरी के कारण हमें दिखाई नहीं देते। तो जिस ईश्वर के विषय में यह लिखा हुआ हो कि—'रोम-रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्मंड।' इस अनन्त ब्रह्माण्ड में पृथ्वी का कोई स्थान नहीं है तो फिर उस पृथ्वी में हमारी-आपकी क्या गणना है? और उसमें आपने बीस बरस साधना कर ली तो क्या इसका महत्त्व है? और मनु ने यदि पैंसठ हजार वर्ष साधना कर ली तो ईश्वर के यहाँ उसका कोई हिसाब होगा क्या? किस तरह से उसका गणित होगा? 'मानहुँ अबहिं भवन ते आए' माने? भगवान् ने कह दिया कि हमारी दृष्टि में तो तुम अभी आए हो। हमारी दृष्टि में यह नहीं कि मनु को पैंसठ हजार वर्ष तपस्या करने के बाद दर्शन दिया। प्रभु ने कहा कि 'अरे! तुम तो अभी-अभी चले आ रहे हो, ज्यों के त्यों तो हो।' यही है साधना और कृपा की विभाजक-रेखा।

जितनी आपमें सामर्थ्य है उतनी करना साधना है और जहाँ आपके सामर्थ्य की सीमा समाप्त हो जाए, वहाँ पर साधना समाप्त और तब प्रारम्भ होती है कृपा। यही सूत्र वहाँ पर दिखाई देता है। तब उन्होंने प्रार्थना की—

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।
बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक।
प्रनतपाल सचराचर नायक॥
जौं अनाथ हित हम पर नेहू।
तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥

जो भुसुंडि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥१/१४५/१-६

और शब्द कितना सुन्दर, इतने दिन हमने उपवास-व्रत किया, उसके बदले नहीं। प्रभु कृपा करो। महाराज! मेरे पास तो प्रमाणपत्र भी दिखाने के लिए नहीं है कि मैंने बहुत दिन उपवास किया था। ज्यों-का-त्यों तो हूँ। तो अब आप कृपा करके दर्शन दीजिए। गोस्वामीजी से कोई कह सकता है, वह आजकल कहते हैं न कि कौन-सा ग्रह, तारे कितने प्रकाश-वर्ष दूर हैं? भगवान् को आने में यदि पैंसठ हजार वर्ष लगे तो बड़ी लम्बी यात्रा रही होगी। उनका धाम इतना दूर होगा कि मनु के पास पहुँचते-पहुँचते पैंसठ हजार वर्ष लग गए। गोस्वामीजी ने कहा कुछ नहीं। वे किसी धाम में नहीं थे। तब क्या हुआ? बोले—

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।
बिस्वास प्रगटे भगवाना॥१/१४५/८

भगवान् तो वहीं पर थे जहाँ व्यक्ति के पुरुषार्थ की साधना की सीमा समाप्त हो गई। जैसे बछड़े को देखकर गाय के स्तनों में दूध भर आता है तो यह बछड़े के किसी पुरुषार्थ का परिणाम नहीं है। पुरुषार्थ बछड़े का थोड़े ही है कि गाय को उसने दिया तो गाय ने उसे दूध दिया। वह तो उसे देखकर जैसे दूध उमड़ आया। इसी प्रकार गोस्वामीजी ने कहा कि 'बिस्वास प्रगटे भगवाना।' मानो इस प्रसङ्ग में जो सूत्र है वह यही है कि साधना, सामर्थ्य का सदुपयोग जो है वही साधना है और असमर्थता की जो पराकाष्ठा है वही कृपा है। इसलिए साधना हमें करनी चाहिए। जिससे कुछ थकान तो आए, कुछ श्रम तो हो। यदि हम पाना चाहते हैं तो भी करना होगा।

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय॥

तृतीय पुष्प

कृपा और पुरुषार्थ को एक-दूसरे के काव्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे कोई वस्तु बिना प्रयत्न के प्राप्त हो रही हो। किसी को यह समाचार मिले कि कोई एक ऐसा व्यक्ति है, जो गाय का दूध बड़ी उदारतापूर्वक, स्नेहपूर्वक दूसरों को देता है। उस दूध का मूल्य नहीं चुकाना है। फिर भी वह दूध लेने के लिए जब जाएगा तो उसे एक बात का ध्यान रखना होगा, उसके पास बर्तन होना चाहिए और पात्र में भी यदि कोई गन्दगी या खटास लिपटी हुई है तो अच्छी तरह से वह उसे साफ कर लेता है। क्योंकि बर्तन यदि स्वच्छ नहीं होगा, उसमें गन्दगी लिपटी रहेगी तो यह सम्भावना है कि उसमें जो दूध दिया जाएगा तो वह फट जाएगा। कई बार आप लोगों को ऐसा अनुभव होता होगा। दूध ठीक आया पर आग पर चढ़ने पर वह फट गया, तो यही लगता है कि कोई-न-कोई गन्दगी बर्तन में रही होगी। तो यह जो प्रभु की कृपा है वह तो बिना मूल्य के ही मिलती है। कृपा का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य नहीं है इसीलिए कृपा है। जिसका मूल्य होता है वह तो कृपा नहीं होती। वह तो किसी दुकान में जब आप कोई वस्तु खरीदने जाते हैं और पैसा देकर उस वस्तु को आप लाते हैं तो उस दुकानदार की आपके ऊपर कोई कृपा नहीं होती। आपने पैसा दिया, बदले में उसने आपको दूध दिया, वस्तु दी।

वस्तुतः कृपा का अर्थ तो यह है कि जो प्रभु अपने स्वभाव से देते हैं। स्वभाव ही उनका कृपामय है, किन्तु साधना की आवश्यकता क्यों है? उसका उत्तर इस रूप में दिया जा सकता है कि हमें साधना के द्वारा अपने बर्तन को, अपने पात्र को शुद्ध बनाना है। इसके अनेक दृष्टान्त रामचरितमानस में आपको मिलेंगे। आप उस प्रसङ्ग की ओर दृष्टि डालें कि

जब हिमाचल के भवन में देवी पार्वती का जन्म हुआ और कुछ दिनों के पश्चात् देवर्षि नारद वहाँ आए। हिमाचल और मैना ने देवर्षि की पूजा की और उसके पश्चात् प्रणाम करके निवेदन किया कि आप मेरी कन्या का हाथ देखकर यह बतावें कि इस कन्या का भविष्य कैसा है?—'कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदयँ बिचारि।' देवर्षि जानते हैं कि पार्वती कौन हैं। उन्हें पता है कि वे तो साक्षात् शङ्कर की अभिन्न शक्ति हैं। लेकिन बड़ी अनोखी बात है। यह बात बाद में नारदजी के मुख से हिमालय और मैना को भी सुनने को मिली। लेकिन पहली बार जब उन्होंने पार्वतीजी की हस्तरेखा को देखा तो उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा। उन्होंने यही कहा कि तुम्हारी यह कन्या बड़ी गुणवती है और सारे संसार में इसकी पूजा होगी। इसे बड़ा सम्मान प्राप्त होगा। इसके पश्चात् जब हिमाचल ने कहा कि कन्या के भविष्य के बारे में कुछ और बतावें। तो उन्होंने कहा कि एक समस्या है। कन्या तो बड़ी गुणवती है, पर इसको जो पति प्राप्त होगा उसमें तो इतने दोष होंगे, इतने अवगुण होंगे। और जो दोष उन्होंने गिनाए वे एक-दो नहीं हैं। नौ अवगुण गिना दिए। उन्होंने कहा तुम्हारी कन्या को जो पति मिलेगा वह 'अगुन' गुणहीन होगा, उसके माता-पिता भी नहीं हैं। वह कुछ संशय पर ध्यान देनेवाला भी नहीं होगा और चाहे वह नग्न भी रहेगा, भवन भी नहीं होगा, जटाधारी होगा—

अगुन अमान मातु पितु हीना।
उदासीन सब संसय छीना॥१/६६/८

'जोगी जटिल' और यह कहना भी नहीं भूले कि उसमें काम की वृत्ति भी नहीं होगी—

जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामि एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥१/६७

अब आप कल्पना कीजिए कि इस तरह का फल यदि किसी कन्या का बता दिया जाए तो? यह सुन हिमाचल और मैना बड़े चकित हुए कि जिसको ऐसा पति मिलेगा, जिसमें इतनी लम्बी संख्या में अवगुण होंगे तो हमारी कन्या का जीवन कितने कष्ट में होगा? जिसके पास रहने के लिए घर न हो, पहनने के लिए वस्त्र न हो और जो व्यक्ति काम की वृत्ति से भी शून्य हो, यदि ऐसा वर मेरी कन्या को मिलेगा तो इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य

होगा? फल सुनते ही मैना और हिमाचल की आँखों में आँसू आ गए। पर प्रश्न यही है कि नारदजी को कह देना चाहिए था कि हिमाचल, आपकी कन्या तो साक्षात् शिव की शक्ति हैं, वे तो निरन्तर उनमें अभिन्न रूप से निवास करती हैं। इसे भगवान् शिव ही वर के रूप में प्राप्त होंगे, तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। पर उन्होंने चिन्ता उत्पन्न कर दी और जब व्याकुल हो गए तो उन्होंने कहा कि एक उपाय है। यही साधना का तत्त्व है।

देवर्षि नारद यदि यह बता दें कि ये शक्ति हैं, तब तो साधना और तपस्या का कोई प्रश्न ही नहीं है। वे तो प्राप्त हैं या प्राप्त होंगे ही, इसमें चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उद्देश्य यही है और साधक के जीवन में इसका बड़ा महत्त्व है। साधक को कभी भी सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, सब कुछ जानने वाला नहीं होना चाहिए। यह सब कुछ जान लेना व्यक्ति को निष्क्रिय बना सकता है। इसलिए आप देखेंगे कि हनुमान्‌जी लङ्का में गए। वह साक्षात् शङ्करजी के अवतार हैं। भगवान् शङ्कर सर्वज्ञ हैं, तो क्या हनुमान्‌जी को यह पता नहीं होना चाहिए कि श्रीसीताजी कहाँ हैं? सारी रात लङ्का के प्रत्येक घर में पैठ करके वे सीताजी को खोज रहे हैं और अन्त में उन्हें कभी भी सीताजी के दर्शन नहीं होते। इसका अभिप्राय है कि हनुमान्‌जी की सर्वज्ञता यहाँ पर सामने नहीं आती।

श्री भरत भगवान् के ही स्वरूप हैं, भगवान् के ही अभिन्न अङ्ग हैं। एक ही ईश्वर अपने को चार रूपों में प्रगट करता है, लेकिन श्री भरत के जीवन में जो अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा है, उस यात्रा में जो एक व्याकुलता है, कभी आशा है, कभी निराशा है, कभी पैर तीव्र गति से बढ़ते हैं, कभी धीमे हो जाते हैं—

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी।
चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ॥२/२३३/५-६

अथवा चौदह वर्ष में केवल एक दिन शेष है और श्री भरत की जो चिन्ता है—'कारन कवन नाथ नहिं आयउ।' वह तो स्वयं भगवान् के ही रूप हैं। श्रीभरत माने? भगवान् का ही एक रूप। इसलिए प्रभु ने हनुमान्‌जी से जो वाक्य कहा कि—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥७/३५/७

क्या भरत में और मुझमें कोई अन्तर है? श्रीभरत और श्रीराम में अन्तर नहीं है, पर भरतजी को तो यही पता नहीं है कि प्रभु आ रहे हैं कि नहीं। इस प्रसङ्ग का तात्पर्य यही है, और सर्वत्र यह सूत्र सामने आएगा। नारद के प्रसङ्ग में भी इसी ओर आपको सङ्केत मिलेगा।

जब हिमाचल और मैना व्याकुल हो गए तो उन्होंने ज्योतिषी महाराज से पूछा कि महाराज यदि ग्रह विपरीत हैं तो शान्ति का कोई उपाय है क्या? बोले—

जे जे बर के दोष बखाने।
ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥१/६८/३

वर के जितने दोष मैंने बताए हैं ये सबके-सब शङ्करजी में मिलते हैं और शङ्करजी ऐसे हैं कि यदि उनसे विवाह हो जाए—

जौं बिबाहु संकर सन होई।
दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥१/६८/४

शिव ऐसे हैं जो दूषण को भी भूषण बना लेते हैं तो ऐसी स्थिति में तुम्हारी कन्या का विवाह यदि शिव से हो जाए! वस्तुत: ज्योतिष का फल वहाँ पर अपने आप में सही होते हुए भी परिणाम में भिन्न होगा। आप देखेंगे कि नारदजी कह सकते हैं कि ठीक है, मैं जाकर भगवान् शिव के पास परिचय दूँगा, प्रस्ताव रखूँगा। लेकिन नारदजी जो बात कहते हैं, वह कितने महत्त्व की है, कि ठीक है, शङ्करजी बड़े उदार तो हैं, पर तुम्हारी कन्या यदि उन्हें पाना चाहती है तो तपस्या करे। शब्द यही है—

जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥१/६९/५

शङ्करजी भावी को, प्रारब्ध को मिटा सकते हैं और तुम्हारी कन्या यदि तपस्या करे तो उसके भविष्य और भावी को मिटाने में शिव समर्थ हैं। ये सब कल्पित बातें हैं, कोई भावी नहीं है, कोई सङ्कट नहीं है, लेकिन वे तो बड़ा भारी भय उत्पन्न कर देते हैं।

यह तपस्या की ओर प्रेरित करने का अभिप्राय क्या है? आप देखते हैं कि जब कोई सोने का एक बर्तन बनावे, मूर्ति बनावे या गहना बनावे तो उसे

वह रूप देने के लिए सोने को कितनी ही प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है, तब वह बर्तन, मूर्ति अथवा आभूषण का रूप धारण कर पाता है। तपस्या क्या है? तपस्या एक अग्नि ही तो है और इसका अभिप्राय यह है कि देवर्षि यह चाहते हैं कि नहीं, नहीं, शिव अभिन्न हैं और उनकी प्राप्ति सहज है अथवा वे परम कृपालु हैं यह सब नहीं। वे कहते हैं कि शङ्करजी 'दुराराध्य पै' अर्थात् दोहरी बातें कर रहे हैं—'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' शङ्करजी वैसे तो दुराराध्य हैं, लेकिन 'आसुतोष पुनि किएँ कलेसू।' वे दुराराध्य भी हैं और आशुतोष भी हैं। लेकिन आशुतोष शिव को पाने के लिए थोड़ा क्लेश तो उठाना ही पड़ेगा।

देवर्षि नारद ने जो सूत्र दिया वही कृपा और साधना को समझने का सर्वश्रेष्ठ सूत्र है। इसका अभिप्राय है कि भगवान् की कृपा को समझ लेना। कृपा कठिन नहीं है। कृपा को कृपा समझना बड़ा कठिन है। कृपा होना कठिन नहीं है। कृपा को ग्रहण करने के लिए जैसी पात्रता चाहिए, वह पात्रता व्यक्ति में नहीं होती तो साधना का उद्देश्य है—हम अपने में पात्रता की सृष्टि करें। इसलिए देवर्षि नारद उनसे आग्रह करते हैं। और अब बड़ा सङ्कट है। माता-पिता बड़े व्याकुल कि हमारी कन्या अत्यन्त सुकुमार है। देवर्षि नारद कह रहे हैं कि कन्या तपस्या करे। यहाँ एक भिन्न बात है। पार्वतीजी ने जब ये लक्षण सुने तो उनकी आँखों में आँसू आ गए, पर वे दुःख के आँसू नहीं थे। वे तो पूर्व-पूर्व जन्मों से भगवान् शिव की प्रिया रही हैं। इसलिए यह सुनकर उनको लगा कि ये सारे लक्षण तो हमारे आराध्य शिव में ही हैं। लेकिन इतना होते हुए भी उन्होंने सर्वज्ञता को प्रगट नहीं किया, अपितु माता और पिता घबराए हुए हैं कि हम अपनी कन्या से कैसे कहें कि तुम शिव को पाने के लिए तपस्या करो।

देवर्षि नारद जाते समय यह आशीर्वाद भी देकर गए कि 'होइहि यह कल्यान अब।' इस कन्या का कल्याण होगा। निश्चिन्त हो जाओ। लेकिन हिमाचल और मैना कहने में सङ्कोच कर रहे हैं। दूसरे दिन मैना से उनकी पुत्री पार्वती ने कहा कि माँ आज मैंने एक सपना देखा है और वह सपना यह है कि एक गौर-वर्ण के तेजस्वी ब्राह्मण ने मुझे उपदेश दिया कि तुम शिव को पाने के लिए जाकर तपस्या करो। यह साङ्केतिक वर्णन 'मानस' में आता है—

सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥१/७२

करै सो तपु जेहिं मिलहिं महेसू।
आन उपायँ न मिटिहि कलेसू॥१/७१/२

स्वप्न में भी नारदजी के द्वारा तपस्या की ओर सङ्केत किया गया। तब भरे मन से ही हिमाचल और मैना ने कन्या को तपस्या की ओर प्रेरित किया।

तपस्या का अर्थ है कि हम अपने अन्तःकरण को शुद्ध बना रहे हैं, क्योंकि तपस्या में व्यक्ति को कष्ट उठाना पड़ता है और कष्ट ही व्यक्ति की परीक्षा है। जैसे यदि हम किसी मूल्यवान वस्तु को पाना चाहते हैं तो हमारे मन में उसके लिए सच्ची लगन होगी, उसके लिए हम बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाएँगे। यदि उस वस्तु के लिए हमारे मन में महत्त्व नहीं होगा तो स्वाभाविक है कि हम पूरा मूल्य चुकाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। आप देखते हैं कि किस प्रकार से पार्वतीजी तपस्या करती हैं। पहले वे बेलपत्र लेकर भगवान् शिव की आराधना कर रही हैं, फिर सूखा हुआ बेलपत्र लेती हैं और बाद में सूखे हुए बेलपत्र भी लेना बन्द कर दिया—**'उमहि नामु तब भयउ अपरना।'**

पार्वती के अनेक नामों में एक नाम है अपर्णा। इस तपस्या में उनका अपर्णा नाम पड़ जाने के बाद भी परीक्षा के दो प्रसङ्ग आते हैं और उसका आप व्यावहारिक जीवन में दृष्टान्त देख सकते हैं। विद्यार्थी वर्षभर पढ़ता है और वर्षभर पढ़ने के बाद उसे अगली कक्षा में भेज दिया जाए। किन्तु नहीं, विद्यार्थी की परीक्षा होती है। छमाही परीक्षा भी होती है, वार्षिक परीक्षा भी होती है। क्यों? परीक्षा न हो तो विद्यार्थी निश्चिन्त हो सकता है कि कोई बात नहीं है। हम पढ़ें चाहे न पढ़ें, हमें तो एक वर्ष बाद आगे बढ़ ही जाना है। तो परीक्षा जो है वह विद्यार्थी को प्रोत्साहित करती है, प्रेरित करती है और विद्यार्थी उसके लिए कितनी तपस्या करता है? रातभर जागकर या कम भोजन करके वे निद्रा पर विजय प्राप्त करते हैं। अन्य जो मनोरञ्जन के साधन हैं, उनसे विमुख होते हैं। तब वह परीक्षा उनके लिए फलदायिनी होती है। ठीक इसी प्रकार से आप देखेंगे कि पार्वतीजी कौन हैं?

आध्यात्मिक अर्थों में यदि देखें और जिससे आप परिचित भी हैं कि—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। —मंगलाचरण

पार्वती मूर्तिमती श्रद्धा हैं और जिस श्रद्धा की यह परीक्षा थी वह तो पवित्र और निर्मल श्रद्धा है। परीक्षा, जैसा मैंने पहले कहा वार्षिक भी होती है, छमाही भी और तीन महीने में भी। इसका अभिप्राय है कि विद्यार्थी सतत् सजग रहे। इसी तरह सप्तर्षियों के द्वारा दो बार परीक्षा ली जाती है। एक बार तो देवर्षि नारद मन्त्र और तपस्या विधि देकर चले जाते हैं। पार्वतीजी तन्मय होकर उस जप और तपस्या में संलग्न हैं। और तब सप्तर्षियों का आगमन होता है। परीक्षक कड़ा ही होना चाहिए। परीक्षक का उदार होना अच्छा नहीं है। विद्यार्थी यदि सुन ले कि परीक्षक उदार है तो वह प्रमादी हो सकता है कि परीक्षक तो सीधे-सादे-सरल हैं। इसलिए पार्वतीजी की परीक्षा के लिए एक नहीं, सात महात्मा भेजे गए। और वे परीक्षा किस रूप में ले रहे हैं। उन्होंने आकर यह कहा कि आपका यह सुन्दर स्वरूप और इतनी कठिन तपस्या? यह आप क्यों कर रही हैं? अब जो संवाद इनके मध्य होता है उसमें पार्वतीजी की अपने लक्ष्य के प्रति अविचल निष्ठा प्रगट होती है।

मनुष्य के जीवन में तपस्या और साधना का एक उद्देश्य यह भी है कि साधक अपने लक्ष्य के प्रति कितना समर्पित है, कितना निष्ठावान् है। इसलिए पार्वतीजी समझ गईं कि सात-सात महात्मा साथ-साथ आए हुए हैं, तो आपने तुरन्त कहा कि आप लोगों को तो मेरी बात सुनकर हँसी आएगी। जैसे बच्चा एक मिट्टी का घरौंदा बनाए तो देखने वालों को हँसी आती है, तो उन्होंने जान-बूझकर ऐसी बढ़िया बात कह दी कि देखिए आप लोग तो मेरी बात सुनकर हँसेंगे और इसलिए हँसेंगे कि मैं तो—'चाहिअ सदा सिवहि भरतारा।' मैं साक्षात् शिव को अपने पति के रूप में पाना चाहती हूँ। सप्तर्षि भगवान् शङ्कर को जानते हैं, उनकी महिमा जानते हैं। वे कह सकते हैं कि वाह! बड़ा सुन्दर सङ्कल्प है, पर बड़ी कठिन परीक्षा हुई। बोले, तुम्हारे गुरु कौन हैं? यह साधना तुम किसके कहने से कर रही हो? तो पार्वती ने कहा महाराज, हमारे गुरु तो देवर्षि नारद हैं। इतना सुनते ही सप्तर्षि हँसे, बोले, तुम्हें क्या नारद ही मिले? महाराज नारद भी तो महापुरुष और देवर्षि हैं। ठीक है, देवर्षि होंगे, पर कोई विवाह विशेषज्ञ तो नहीं हैं।

इसका अर्थ यह है कि जब आपको कोई रोग होता है तब उस रोग का जो विशेषज्ञ होता है उसके पास जाते हैं। यह नहीं कि आपको कोई अन्य

रोग हुआ हो और आप किसी अन्य रोग के विशेषज्ञ के पास पहुँच गए। तो सप्तर्षियों ने कहा कि नारद योग्य तो हैं, पर वे कोई विवाह विशेषज्ञ नहीं हैं। क्यों? बोले, स्वयं तो विवाह किया नहीं। विवाह की जो समस्या होती है, उसका उन्हें पता नहीं है और उनको एक शौक भी है कि स्वयं भी विवाह नहीं किया और दूसरों का भी विवाह नहीं होने देना चाहते। पर उनको जब लगता है कि ये विवाह के लिए बहुत बेचैन है तो सोचते हैं कि इसका ऐसा विवाह करा दो कि इसको जीवनभर कष्ट-ही-कष्ट मिले और विवाह होने के बाद भी ये विवाह से पूरी तरह दूर चला जाए। ऋषि हँसने लगे—

सुनत बचन बिहसे रिषय गिरिसंभव तव देह।

अरे, कोई बात नहीं, आखिर पत्थर की बेटी हो।

सुनत बचन बिहसे रिषय गिरिसंभव तव देह।
नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह॥१/७८

आज तक कभी आपने सुना है कि नारद ने कभी किसी का घर बसाया है? सप्तर्षियों ने क्या याद दिलाया? बोले, इतिहास बताता है कि—

दच्छ सुतन्ह उपदेसेन्हि जाई।
तिन्ह फिरि भवनु न देखा आई॥१/७८/१

भ्रमण करते हुए एक बार चतुर्मास करने के लिए नारदजी ठहर गए। दक्ष-पुत्र महात्माजी के सत्सङ्ग में रोज आने लगे। नारदजी ने उन्हें ऐसा पाठ पढ़ाया कि वे घर-बार छोड़कर साधु हो गए। तो एक ओर तो दक्ष और 'चित्रकेतु कर घरु उन घाला।' तुम्हें पता नहीं कि चित्रकेतु के घर को भी उन्होंने उजाड़ दिया और—'कनककसिपु कर पुनि अस हाला।' प्रह्लाद को ऐसा भड़का दिया कि वह अपने बाप के विरुद्ध हो गया। तो—

नारद सिख जे सुनहिं नर नारी।
अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥१/७८/३

नारदजी का उपदेश जो भी सुनेगा, वह घर जरूर छोड़ेगा और भीख माँगेगा। इसलिए क्या हो गया है तुम्हें। उन्होंने कहा, क्या आप तपस्या करके विवाह करेंगी? अरे आपका सौन्दर्य, आपके दिव्य गुण, उसे पाने के लिए तो वर को व्यग्र होना चाहिए। इसलिए छोड़िए आप तपस्या को और अब हम आपको बड़ा सरल उपाय बता रहे हैं। हमने विचार कर लिया है कि कौन आपके लिए योग्य पति हो सकता है। नारदजी के द्वारा पहले नौ अवगुणों की चर्चा

चल चुकी थी। तो उन्होंने कहा कि जो वर हम बता रहे हैं उनमें नौ गुण हैं।

शिव में नौ अवगुण, तुम्हारा गुरु घर-उजाड़ और जो तुम्हारा आराध्य है वह तो अवगुणों का पुञ्ज है। पर हमने तुम्हारे लिए जिस वर का निर्णय किया है, उनमें नौ गुण हैं—

अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला।
गावहिं बेद जासु जस लीला॥
दूषन रहित सकल गुन रासी।
श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥१/७९/२-३

जिस वर के विषय में हम कह रहे हैं उसमें ये सब गुण हैं और उसे पाने के लिए तुम्हें तपस्या नहीं करनी पड़ेगी। तो क्या करना होगा? बोले—'अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी।' हम लोग जाकर उन्हें बता दें, तब वे स्वयं आकर आपसे अनुरोध करेंगे।

क्या अभिप्राय हुआ? ऐसा अनेक साधकों के जीवन में देखा गया है। चले गए हनुमान्‌जी की उपासना करने। बहुत दिन बाद भी कुछ नहीं हुआ तो किसी ने कह दिया कि प्रेत जो हैं वे बड़ी जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं। तो साधक सोचता है कि हनुमान्‌जी को छोड़कर चलो, प्रेत को ही प्रसन्न कर लें। थोड़ा चमत्कार आ जाए, कोई विशेषता आ जाए। तो अनेक लोग ऐसे दिखाई देते हैं कि अरे भई, बड़ी लम्बी साधना है, बड़ी पवित्रता है, बड़ी तपस्या है। वह व्यक्ति तो यही सोचता है कि अरे भई, कोई कार्य यदि सरलता से हो सकता है। जिनमें सङ्कल्प के प्रति दृढ़ता नहीं होती, वह तो छोटा मार्ग, चाहे जो हो, कुछ मिले तो! इसमें क्या रखा है, पता नहीं मिलेगा कि नहीं मिलेगा?

पार्वतीजी ने सप्तर्षियों से स्पष्ट कह दिया। धन्य हैं। कैसी निष्ठा है! यही श्रद्धा की परीक्षा है। श्रद्धा की परीक्षा में दिखाई दिया कि उनमें लक्ष्य के प्रति कितनी दृढ़ता है। उन्होंने ऐसी सुन्दर बातें कहीं कि परीक्षकों को ही लगा कि हम ही लोग परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए हैं। पार्वतीजी ने कहा कि महाराज, आपने प्रारम्भ में ही कहा कि मैं पर्वत की बेटी हूँ तो पर्वत की बेटी को कोई उपदेश दे तो वह योग्य है क्या? पत्थर कहीं उपदेश सुनेगा? जब आपने मुझे मान ही लिया कि मैं पर्वत की बेटी हूँ। निश्चित रूप से श्रद्धालु व्यक्ति को पर्वत से जुड़ा ही होना चाहिए। पर्वत माने जो अचल है, अडिग है

और इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति पीपल के पत्ते की तरह—'पीपर पात सरिस मन डोला।' जिनका मन पीपल के पत्ते की तरह जरा-सी हवा में हिल जाता है वे लोग क्या श्रद्धा करेंगे! श्रद्धा तो वहीं अडिग हो सकती है जहाँ हिमालय से उसका सृजन हुआ हो। तो उस अडिग, अचल रूप से श्रद्धा का जन्म हुआ है। इसके साथ-साथ उन्होंने और भी व्याख्या कर दी। उन्होंने कहा, महाराज, पत्थर की बेटी होना क्या केवल दुर्भाग्य की ही बात है? क्यों? बोले, आप तो यह जानते हैं कि सोना भी इन पहाड़ों से ही निकलता है। तो इसी प्रकार से हमारी यह जो अडिग निष्ठा है, वह वस्तुतः जड़ नहीं है। उससे स्वर्णमयी श्रद्धा का जन्म हुआ है।

पार्वती ने सप्तर्षियों से यही कहा कि मैं आपको बता देना चाहती हूँ कि यदि आप यह समझते हों कि शङ्करजी मुझे नहीं मिलेंगे, कि उनको प्रसन्न करना कठिन है तो मेरा भी यह व्रत है। क्या? बोलीं—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥१/८०/५

करोड़ों-करोड़ों जन्म तक मैं साधना करूँगी, तपस्या करूँगी। एक जन्म नहीं यदि मुझे अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ें, करोड़ों जन्मों तक; तो भी मैं शिव से ही विवाह करूँगी, अन्यथा कुँवारी ही रहूँगी। मानो यह जो दृढ़ निश्चय है इसकी परीक्षा तो साधक के जीवन में जब विपरीत परिस्थितियाँ आती हैं तो उसे कठिनाई प्रतीत होती है। पर ऋषि इतनी जल्दी हार माननेवाले नहीं थे। एक नया रास्ता निकाल लिया। बोले, अच्छा एक बात बताइए, नारद तो कपटी भी है—

मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।
आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥
तेहि कें बचन मानि बिस्वासा।
तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥१/७८/४-५

भगवान् शङ्कर में अवगुण चाहे जितने हों, पर कपटी नहीं हैं। वे शरीर से ही नग्न नहीं हैं, मन से भी पूरी तरह नग्न हैं। तो शङ्करजी कभी असत्य नहीं बोलेंगे। शङ्करजी आकर यदि कहें कि यह तपस्या, तुम्हारा यह मुझे पाने का सङ्कल्प सही नहीं है, तब तुम क्या करोगी? एक बड़ा सूक्ष्म प्रश्न था। सप्तर्षियों के इस प्रश्न के उत्तर में पार्वतीजी ने जो कहा—

तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आपु कहहिं सत बार महेसू॥१/८०/६

सौ बार भी शङ्करजी आकर कहें तो नारद का उपदेश मैं नहीं छोड़ूँगी।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि आराध्य से गुरु का स्थान बड़ा है। आराध्य और गुरु में छोटे-बड़े की बात तो भावना की होती है, किन्तु यहाँ तो पार्वतीजी ने जो कहा उसका तत्त्व क्या है? ये तो कह रही हैं कि यदि शङ्करजी भी कहें। इसका अर्थ यह है कि एक साधक अपने आराध्य के लिए प्राण भी दे सकता है, लेकिन यदि आराध्य यह कहने लगे कि तुम मुझसे प्रेम करना छोड़ दो, तो? तब वह आराध्य की बात मानेगा कि नहीं? और इसका अर्थ क्या है? तब तो वह यही कहेगा कि हम प्राण दे सकते हैं, पर आपसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकते। मानो देवर्षि के वचन का यदि शङ्करजी खण्डन करते हैं तो पार्वतीजी का तात्पर्य है कि शङ्करजी कहें कि तुम मुझे पाने के लिए तपस्या मत करो। न, न। जब गुरुदेव ने मुझे आश्वासन दिया है कि तपस्या से शिव मिलेंगे और शिव आकर कहें कि तुम नारद का उपदेश छोड़ दो तो नारदजी ने अपनी भक्ति के लिए थोड़े ही कहा है कि मेरी भक्ति करो, कि गुरु का स्थान आराध्य से बड़ा है। उन्होंने तो शिव की ही महिमा बताई है, शिव को पाने का ही मुझे उपदेश दिया है।

मानो उसमें तत्त्व यही था कि जिसके द्वारा हम लक्ष्य को पाना चाहते हैं और उस सङ्कल्प का यदि हमारे आराध्य भी परीक्षा लेने आएँ तो जो साधक होगा वह कभी भी अपने आराध्य के कहने से अपने आराध्य की आराधना नहीं छोड़ेगा। सब कुछ छोड़ेगा पर आराध्य की आराधना नहीं छोड़ेगा। और जब परीक्षा हुई तो तुरन्त उन लोगों ने प्रणाम किया—

तुम्ह माया भगवान सिव सकल जगत पितु मातु।

प्रणाम करके चले जाते हैं। लेकिन कितनी कठिनाई है—श्रद्धा की निर्मलता की परीक्षा में? पहले तो यहाँ पर कठिनाई थी, जिसे उन्होंने पार कर लिया। इसके बाद देवताओं की प्रेरणा से काम शङ्कर पर आक्रमण करता है तो काम शङ्करजी द्वारा जला दिया गया। अब बड़ा कठिन प्रश्न आ गया। विवाह का जो मूल आधार है, वह तो काम ही है। काम ही विवाह का देवता है। पति और पत्नी का जो मिलन-सूत्र है वह तो काम ही है। तो फिर ऐसी स्थिति में जब काम जल गया तो विवाह का अब क्या प्रयोजन है। यह कठिन परीक्षा

लेकर श्रद्धा अब कामनायुक्त श्रद्धा होगी कि निष्काम श्रद्धा? और तब, सप्तर्षि फिर से आ गए और आते ही जोर-से हँसकर बोले—

कहा हमार न सुनेहु तब नारद कें उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ कामु महेस॥१/८९

क्या होगा तुम्हारी प्रतिज्ञा का? करोड़ों जन्म की प्रतिज्ञा और विवाह का! अब क्या सोच रही हो! जब काम को ही जला दिया तब तो वे ऐसे निकले कि स्वयं तो विवाह क्या करेंगे, दूसरों के विवाह का मार्ग भी बन्द कर दिया। और तब पार्वतीजी इस समाचार को सुनकर भी विचलित नहीं हुईं।

कामना पूर्ण होने पर श्रद्धा—यह तो बहुत-से लोग करते हैं, मुझे उन पर बड़ी श्रद्धा है। मेरी जो कामना थी, वह पूर्ण हो गई। काम जल गया तब परीक्षा सबसे कठिन है। सप्तर्षियों ने विचारा कि इसे सुनकर पार्वती के मुख पर क्या भाव आएगा? पर उनके ओंठों पर हँसी थी। उन्होंने कहा कि आप समाचार देर से लेकर आए हैं। क्या हुआ? हम लोगों से पहले आकर कोई बता गया क्या? बोलीं, नहीं, कोई बता नहीं गया, मुझे पहले से पता था। आप लोगों को इतनी देर बाद अब पता चला है? अब आप लोग कहते हैं कि शङ्करजी ने काम को जला दिया, पर मैं तो जन्म से जानती हूँ—

हमरें जान सदा सिव जोगी।
अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जौं मैं सिव सेये अस जानी।
प्रीति समेत कर्म मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा।
करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥१/८९/३-५

मानो यह सबसे कठिन परीक्षा थी। यही श्रद्धा की पराकाष्ठा थी। काम जल गया तो क्या हुआ? मैं भूल नहीं पाता, हमारे मैथिलीशरणजी का वह संस्मरण। जब छोटी अवस्था में थे तो किसी के यहाँ अखण्ड पाठ था, सम्पुट सहित—

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।
करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥१/१३१/७

बड़े उत्साह से पाठ चल रहा था। पत्नी कुछ अधिक भावुक थीं। पति की इच्छा तो नहीं थी, पर पत्नी की इच्छा थी तो पाठ रख दिया गया। संयोग

ऐसा हुआ कि वे गए गुसलखाने में और पैर फिसल गया, गिर पड़े और गिर ही नहीं पड़े, हड्डी टूट गई। तो उस गुसलखाने से सबसे पहले उन्होंने चिल्लाकर यही कहा कि पाठ बन्द करो—

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।
करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥

यही मेरा हित है क्या? हड्डी टूट गई मेरी, बन्द करो यह सब। तो इसका अर्थ यह है कि हमारी इच्छा के विरुद्ध जरा भी कुछ हो जाए तो हम पाठ बन्द कर देना चाहते हैं, पूजा बन्द कर देना चाहते हैं। यह श्रद्धा नहीं है, यह तो केवल एक तात्कालिक व्यापार-वृत्ति है और उसे हम श्रद्धा का नाम दे देते हैं और तब यह देखते हैं कि उसके बाद जब किसी के अन्तःकरण में कहीं किसी एक कामना का लेश नहीं है, पर यह तो हम तभी देखते हैं कि जब किसी के प्रत्यक्ष व्यवहार में काम जल जाए और उसे सुनकर भी पार्वतीजी के मन में कहीं कोई श्रद्धा का अभाव न हो उस समय आप फिर देख लीजिए।

यह क्रम है। पार्वतीजी तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाती हैं। पर माता मैना? वह तो बड़े सङ्कट में पड़ गईं। विवाह निश्चित हो गया। दूल्हा आ रहा है। और दूल्हा जब सचमुच द्वार पर आकर खड़ा हो गया तो बुद्धि रूपा जो मैना है और अटल निश्चय रूप हिमालय हैं, उन्हीं से श्रद्धारूपा पार्वती का जन्म हुआ। बुद्धि विचलित बहुत जल्दी होती है। बुद्धिमान् व्यक्ति भी अनेक बार विचलित हो जाता है। और जिस समय दूल्हा आया, बड़े प्रसन्न मन से सोने के थाल में दीपक सजाकर आरती उतारने के लिए जाती हैं। लेकिन जब देखा तो गोस्वामीजी ने लिखा—

कंचन थार सोह बर पानी।
परिछन चली हरहि हरषानी॥१/९५/३

हर्षित होकर हर का परिछन करने चलीं। पर हर नाम हर ही तो नहीं है न! गईं हर समझकर पर सामने कौन दिखाई दिया? बोले—'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा।' गईं हर समझ कर, दुःख के हरणकर्त्ता समझकर। सामने देखा तो, यह तो दुःखहरण करनेवाला नहीं, महादुःख देनेवाला है। साँप लपेटे हुए हैं, ऐसा भी कोई दूल्हा होता है, कपड़ा तक नहीं पहना हुआ है। बैल पर चढ़ा हुआ चला आ रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मैना को इतना क्रोध आया कि—

कंचन थार सोह बर पानी।
परिछन चली हरहि हरषानी॥
बिकट बेष रुद्रहि जब देखा।
अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा।१/९५/३-४

कौन आरती उतारे? थाल पटक दिया और लौट गईं। अब जो सगुन; असगुन माननेवाले थे वे तो डर गए कि जिस दूल्हे के विवाह में थाली पटक दी जाए, आरती का दीपक बुझ जाए।

एक व्यक्ति परिचित हैं। वे बताते हैं कि मेरे विवाह में बिल्ली कूद पड़ी। और यह सही बात है, वे यहाँ हैं अभी, तो मुझे सुनकर बड़ी हँसी आई। तो बिल्ली कूद पड़ी माने बिल्ली ने कूदकर विवाह की पवित्रता को समाप्त कर दिया। तो भाई, असगुन का अर्थ सबके लिए असगुन नहीं होता है। वह तो आप जैसा ग्रहण करते हैं, आपके लिए वही अर्थ बनता है। तो इस घटना से सब देवता घबरा गए। उन्हें यही लगा कि शङ्करजी अब या तो क्रोध करेंगे कि इतना बड़ा अपमान? अथवा कहेंगे कि चलो वापस। लेकिन गोस्वामीजी ने तुरत लिखा—'गए महेसु जहाँ जनवासा।' जहाँ बारातियों के ठहरने का प्रबन्ध था, वहाँ जाकर बैठ गए। महाराज! सुना नहीं आपने? मैना ने उस दिन जो-जो शब्द नारद के लिए कहे। वहाँ पर वही आता है। अरे, कितना अनर्थ किया—

साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया।
उदासीन धनु धामु न जाया॥
पर घर घालक लाज न भीरा।
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥१/९६/३-४

कैसे उसने इस पागल के लिए हमारी कन्या से तपस्या करवा दी। अब पार्वतीजी तो वस्तुस्थिति से भिज्ञ हैं। सामान्यतः परिस्थिति-विशेष में विचार कर जो बात जिसे कहनी चाहिए इसके स्थान पर व्यक्ति कौन-सी बात ठीक है इसका ध्यान नहीं रख पाता।

पार्वतीजी ने वह उत्तर नहीं दिया जो तात्त्विक था। उन्होंने व्यावहारिक उत्तर दिया। जब मैना ने यह कह दिया कि मैं आत्महत्या कर लूँगी, कन्या को लेकर समुद्र में कूद जाऊँगी, पर इस पागल से अपनी कन्या का विवाह नहीं

करूँगी और विलाप करने लगीं। तब पार्वतीजी ने कहा कि माँ—

करम लिखा जौं बाउर नाहू।
तौ कत दोसु लगाइअ काहू॥
तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि के अंका।
मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका॥१/९६/७-८

माँ, जिसके भाग्य में जो लिखा होता है उसके साथ वही होता है और यदि मेरे भाग्य में पागल पति ही लिखा है तो तुम्हारे व्याकुल होने से क्या होगा? मानो यहाँ उन्होंने प्रारब्ध का वर्णन करके जो एक सूत्र दिया कि यदि जीवन में कभी कोई ऐसी घटना हो जाए कि जिसकी हम बौद्धिक व्याख्या न कर सकें तो यह मानकर ही व्यक्ति को सन्तोष करना चाहिए कि यह मेरे किसी प्रारब्ध का परिणाम है। प्रारब्ध मान लेने पर हमारी दोष-दृष्टि दूसरों पर नहीं होती, अपने ही प्रारब्ध पर होती है। अभी नारद में उन्हें सभी दोष दिखाई दे रहे थे। उन्होंने कहा कि नहीं, नहीं, यह तो अपना ही प्रारब्ध होता है। यह मान लेना भी व्यक्ति के जीवन में उपयोगी है।

याद रखिएगा, भक्त के जीवन में दो ही शब्द हैं और सारा जीवन उन्हें इन दो शब्दों के बीच में बिताना है—एक है 'हरि-कृपा' और दूसरा है 'हरि-इच्छा'। जब आपके मन के अनुकूल हो तो समझ लीजिए हरि-कृपा और जब मन के अनुकूल न हो तो हरि-इच्छा। कितनी बढ़िया बात है। कृपा माने? हमारी जो इच्छा है, उसे उन्होंने पूरा कर दिया और हरि-इच्छा माने उनकी जो इच्छा हुई वह उन्होंने किया। तो चाहें हमारी इच्छा वे पूरी करें चाहे अपनी इच्छा हमसे पूरी करावें। इसलिए भक्त लोग कृपा की बात तो कहते ही हैं। इसके पहले जब सतीजी के मन में मोह हुआ। शङ्करजी के कहने पर भी दूर नहीं हुआ तो शङ्करजी के मुँह से क्या निकला?—

हरि इच्छा भावी बलवाना।
हृदयँ बिचारत संभु सुजाना॥१/५५/६

यही हरि की इच्छा होगी। कृपा हमें तत्काल अनुकूल और सुखद प्रतीत होती है, पर हरि की इच्छा में उनकी कृपा छिपी रहती है और वह दूरगामी सिद्ध होती है। इसलिए प्रशान्त हो जाते हैं। यह जो हरि-इच्छा है यही परिणति है। यदि प्रारब्ध मानकर आप समाधान कर लें तो किसी के प्रति आपका द्वेष नहीं बढ़ेगा। यदि हरि-इच्छा मान लेंगे तो लगेगा कि हमारी इच्छा के अनुकूल तो

नहीं है। भगवान् ने कोई इच्छा की होगी तभी उसका कोई कल्याणकारी परिणाम होगा। पार्वतीजी ने कक्षा में जैसा उत्तर दिया जाना चाहिए ठीक वैसी ही बात कही। पर उन्होंने कोई वेदान्त ज्ञान, योग आदि जैसी कोई चर्चा नहीं की। बस उन्होंने यही कहा कि यदि मेरे भाग्य में पागल पति लिखा है तो आप क्या करेंगे? तब मैना और भी विकल हो गई।

ऐसी स्थिति में नारदजी की एक नई भूमिका उपस्थित हुई। नारदजी ने सप्तर्षियों से कहा कि हम अकेले तो जाएँगे नहीं, आप लोग भी साथ चलिए। अकेले जाने पर पता नहीं कैसा स्वागत हो। कितना क्रोध होगा उन्हें मुझ पर कि इसी साधु ने मेरे घर को उजाड़ दिया। मेरी कन्या से तपस्या करवा दी। तो सप्तर्षि नारदजी के साथ हो लिए। ये वही नारदजी हैं जो प्रारम्भ में यह बता चुके थे कि वर में ये दोष हैं, लेकिन कन्या की तपस्या से वह दूर होगा। अब वही नारदजी तत्त्वमय उपदेश देते हैं। बोले, मैना तुम इतनी चिन्तित क्यों हो? बोलीं, महाराज, अपनी बेटी के लिए चिन्ता मैं नहीं करूँगी तो क्या आप करेंगे? आपकी तो कोई बेटी नहीं है। नारदजी ने कहा, आप जानती नहीं हो। ये आपकी बेटी नहीं हैं। तो? आप इनकी बेटी हैं—

मयना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तव सुता भवानी॥१/९७/२

और यह जो कह रही हो कि शिव से इनका विवाह नहीं करूँगी—

सदा संभु अरधंग निवासिनि॥
जग संभव पालन लय कारिनि।
निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥१/९७/३-४

नारद ने उपदेश दिया, कितना आनन्द आया। गोस्वामीजी ने कहा—इस उपदेश को सुनते ही बुद्धि में आया हुआ संशय मानो दूर हो गया। और—

तब मयना हिमवंतु अनंदे।
पुनि पुनि पारबती पद बंदे॥१/९८/१

उसके पश्चात् कितने आनन्दमय रूप में कन्यादान करते हैं और उसके बाद मैना शङ्करजी से कहती हैं, हिमाचल कहते हैं—

का देउँ पूरनकाम संकर चरन पंकज गहि रह्यो॥१/१००/१०

इसका सूत्र यह है कि व्यक्ति जब साधना करता है, तब साधना में,

अन्तःकरण में छिपे हुए जो अनेक दोष हैं, कमियाँ हैं, जो वैसे सामने दिखाई नहीं देते हैं, पर वे प्रायः आती हैं या आ सकती हैं। साधना में जब उनका निराकरण हो जाता है, साधक का अन्तःकरण उसको ग्रहण करने योग्य हो जाता है उसके बाद कृपा का जो आनन्द होता है उसके पहले वह कृपा को कृपा के रूप में नहीं समझ पाता, नहीं समझ पाएगा। यह इसका सङ्केत है। यही सर्वत्र है।

महाराजश्री दशरथ के अन्तःकरण में पुत्र के अभाव की व्याकुलता है, व्यग्रता है। इससे वे गुरु वशिष्ठ के पास जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

एक बार भूपति मन माहीं।
भै गलानि मोरें सुत नाहीं।
गुरु गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि बिनय बिसाला॥१/१८८/१-२

गुरुदेव सब कुछ होते हुए भी पुत्र नहीं है। तो क्या गुरुदेव नहीं जानते कि ये जो दशरथ हैं अपने पूर्वजन्म में मनु थे? इनको भगवान् पुत्र होने का वरदान दे चुके हैं। उन्होंने बिल्कुल नहीं कहा। और यह कैसी अनोखी बात है कि दशरथ को अपना पूर्वजन्म याद नहीं है। साधक को पूर्वजन्म की याद न रहने में भी कल्याण होता है। इसका अभिप्राय है कि दो तरह से संसारी लोगों को भी पूर्वजन्म की याद नहीं रहती, जो अच्छा ही होता है। क्योंकि इसी जन्म में उसके पास जितनी स्मृतियाँ हैं उसी से इतने शत्रु-मित्र बन गए हैं तब ऐसे में यदि पूर्वजन्मों की स्मृति आने लगे तो चलना कठिन हो जाएगा। जिधर देखेंगे उधर ये, वो था, इसने ऐसा किया था। गुरु वशिष्ठ ने नहीं बताया। मनु को तो याद है नहीं कि वह अब दशरथ है। तब गुरु कहते हैं 'तुम्हें पुत्र होगा।' वह यह भी कह सकते थे कि अच्छा मैं आशीर्वाद देता हूँ तुम्हारे पुत्र हो जाएँगे, पर ऐसा भी नहीं किया। बोले—

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।
त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी॥१/१८८/४

महाराज दशरथ ने गुरुदेव से याचना की कि गुरुदेव, आपके आशीर्वाद''''? पर गुरु ने कहा, नहीं, नहीं, मेरे आशीर्वाद से नहीं होंगे, पुत्रेष्ठि यज्ञ करोगे तब पुत्र होंगे और पुत्रेष्ठि यज्ञ का आचार्य भी मैं नहीं बनूँगा। शृंगी ऋषि बनेंगे। कितनी मनोवैज्ञानिक बात है, किस तरह से साधना के द्वारा

गुरु समाधान प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ है कि गुरु कह सकते हैं कि पूर्वजन्म में भगवान् राम तुम्हें आशीर्वाद दे चुके हैं कि वे तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लेंगे। या यह कह देते कि मेरे आशीर्वाद से पुत्र होगा तो''''। महाराज दशरथ के जीवन में जो व्याकुलता थी और फिर बाद में यज्ञ की भावना का उनके मन में जो उदय हुआ और उससे जो यज्ञ की महिमा प्रतिष्ठापित हुई, वह न हुई होती। मानो उन्होंने उस कामना को भी यज्ञ की दिशा में मोड़ दिया—

सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा।
पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥१/१८८/५

बिना यज्ञ के भी पुत्र हो रहे हैं और होते ही हैं, लेकिन यज्ञ के द्वारा पुत्र प्राप्त होना इसके मूल में जो दर्शन था वह कितना विलक्षण था। यज्ञ के द्वारा पुत्र प्राप्त हुआ और उसका सुफल आपको तब दिखाई पड़ा कि जब विश्वामित्र के यज्ञ में बाधा पड़ रही है और उन्हें लगता है कि—'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।' राक्षसों का वध बिना भगवान् की कृपा, बिना हरि-कृपा के नहीं होगा। तब विश्वामित्र महाराज दशरथ से याचना करने जाते हैं। महाराज दशरथ के मन में अपने पुत्र के प्रति इतनी ममता है कि उन्होंने कहा कि महाराज सोचिए—

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।
कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥१/२०७/६

और वह भी—'चौथेंपन पायउँ सुत चारी।' क्या स्वभाव होता है। यदि एक ही पुत्र होता और कहते कि चौथी अवस्था में एक ही पुत्र है, वह मैं कैसे दे दूँ? मानो चार कम हैं और फिर शब्द क्या कहें? चौथेपन माने वृद्धावस्था। मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—चार अवस्था में चार बेटे, पर कहते हैं—'राम देत नहिं बनइ गोसाईं।' तब उस यज्ञ-दृष्टि का प्रयोग गुरुदेव के द्वारा होता है। और जब वे कहते हैं कि मैं नहीं दे पाऊँगा, तो—'तब बसिष्ट बहुबिधि समुझावा।' गुरु वशिष्ठ ने बहुत प्रकार से समझाया और याद दिलाया कि राजन्, वह दिन याद करो जिस दिन तुम मेरे पास आए थे। तुम्हारे पुत्र नहीं था। हाँ महाराज! कैसे हुआ? आपकी कृपा से। पुत्रेष्ठि-यज्ञ से तुम्हें पुत्र हुआ। शृंगी ऋषि के आचार्यत्व से तुम्हें पुत्र प्राप्त हुआ। राजन्! यज्ञ से तुम्हें पुत्र प्राप्त हुए और आज एक महात्मा के यज्ञ पर सङ्कट आया

हुआ है। तुम्हें यज्ञ से चार पुत्र प्राप्त हुए और तुम दो देने में भी नाहीं कर रहे हो। यह कैसे हो सकता है।

मानो सङ्केत यही है कि यज्ञ-भावना कब जाग्रत होगी ? यदि आप यह कहें कि यह मैंने अपने पुरुषार्थ से पाया तो आप अधिकारी हैं, स्वामी हैं। पर जब आप किसी वस्तु को देवता की कृपा से पाते हैं तो आपके मन में कृतज्ञता होती है और आपका जो लक्ष्य है, इसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। इसलिए फिर वह आनन्ददायक बात आती है। उन्होंने कहा कि तुम क्यों सङ्कोच कर रहे हो ? तुम पुत्र को देकर तो देखो ! किसी कृपण से कहा गया कि दान दीजिए, ब्याज सहित चुकाएँगे। हाँ, हाँ, तो ले जाइए। तो यही हुआ। जब जनकपुर से निमन्त्रण आया और विवाह के मण्डप में महाराज दशरथ ने चारों पुत्रों का विवाह होते देखा, तो गुरु वशिष्ठ ने कहा कि देखो, तुमने दो को दिया और मिथिला से आठ को लेकर लौटोगे। तो यह तो बड़ा लाभप्रद रहा।

इस यात्रा में प्रभु के द्वारा यह जो यज्ञ की वृत्ति, विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा, जनक के यज्ञ की रक्षा इसका अभिप्राय है कि जब हमारे जीवन में केवल कृपा के नाम पर आलस्य और कुछ न करने की वृत्ति होती है, तब न तो हम कृपा को समझ पाते हैं और न उसे ग्रहण कर पाते हैं। उसके द्वारा हमारे जीवन में तमोगुण और आलस्य की सम्भावना है। जब कोई व्यक्ति साधना करता है तो अन्तःकरण शुद्ध होता है, पवित्र होता है और सचमुच तब भगवान् की कृपा कृपा के रूप में दिखाई देती है। इसके बाद की चर्चा अगले व्याख्यान में।

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय ॥

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

चतुर्थ पुष्प

वस्तुतः साधना और कृपा या पुरुषार्थ और कृपा दोनों ही जीवन में आवश्यक हैं। इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु यदि हम गहराई से देखें तो ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस सन्दर्भ में आप उस प्रसङ्ग पर दृष्टि डालें जहाँ महर्षि विश्वामित्र की गाथा मानस में मिलती है। महर्षि विश्वामित्र एक ऐसे महापुरुष हैं कि उन जैसा पुरुषार्थ विश्व में किसी में दिखाई ही नहीं दिया। कितने बड़े पुरुषार्थी ! और पुरुषार्थ के द्वारा कोई व्यक्ति कितनी उन्नति कर सकता है, कितना ऊपर उठ सकता है, यदि आप इसका परिचय पाना चाहें तो पुराणों में जो ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का चरित्र है, वह पढ़ने योग्य है।

विश्वामित्रजी की प्रारम्भिक वृत्तियों में तमोगुण, रजोगुण, सत्वगुण तीनों मिले हुए दिखाई देते हैं। वे गाधि राजा के पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं और सात्त्विक वृत्ति के संस्कार से प्रेरित होकर गुरु वशिष्ठ के आश्रम में जाते हैं। गुरु वशिष्ठ को ऐसा लगा कि देश का राजा आया हुआ है जो उचित वातावरण के लिए राज्य में शान्ति और व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील रहता है। अतः उनका स्वागत करना ही चाहिए। इसलिए उन्होंने बड़ा भव्य राजसिक स्वागत किया जिसमें नाना प्रकार के व्यञ्जन—भक्ष्य, भोज्य, चख्य और अगणित प्रकार के पदार्थ लोगों के भोजन में परसवाए। वहीं रहने की भी अद्भुत व्यवस्था हुई। पर उसके बाद ही गाधितनय विश्वामित्र की दुर्बलता सामने आती है। वे ब्रह्मर्षि से प्रश्न करते हैं कि आपने जो इतना बड़ा सत्कार किया वह भी कुटिया में रहते हुए तो यह कैसे सम्भव हुआ ? और तब सरल स्वभाव वशिष्ठ ने बताया कि आश्रम में कामधेनु की कन्या नन्दिनी नाम की जो गाय है, उससे मैं जो भी माँगता हूँ वह तत्काल पूर्ण कर देती है। इसी के द्वारा आपका और आपकी सेना का स्वागत किया गया।

और तब विश्वामित्र के जीवन में लोभ उत्पन्न हो गया।

लोभ के वर्णन के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि एक प्रकार के लोग वे होते हैं जो अपना लोभ सीधे-सीधे प्रगट कर देते हैं, लेकिन जो लोग लोभ के कलाकार होते हैं, उनके जीवन में इच्छा के साथ एक और वस्तु होती है जिसे दम्भ का नाम दिया गया है। आप अरण्यकाण्ड में पाएँगे, प्रभु अपने श्रीमुख से कहते हैं—

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥३/३८ख

इसमें लोभ के साथ दो बातें जोड़ी गई। इच्छा स्वाभाविक है, लोभी के जीवन में इच्छा होगी ही, होती ही है, लेकिन उसके साथ जब दम्भ जुड़ जाता है, तो इसका तात्पर्य क्या है? यदि कोई व्यक्ति यह दिखाने की चेष्टा करे कि वह लोभी है, उसकी बड़ी इच्छाएँ हैं तो सामनेवाले व्यक्ति पर उसके प्रति आदर नहीं होता। उसके प्रति उसके मन में हीन बुद्धि हो जाती है। इसलिए जब कोई लोभी व्यक्ति लोभ में कला का प्रयोग करता है तब वह दम्भ का प्रयोग करता है। और दम्भ का अर्थ यह है कि वह यही दिखाने की चेष्टा करता है कि उसके जीवन में कोई इच्छा नहीं है। और इसलिए सामनेवाला व्यक्ति प्रभावित होता है, आज भी यही होता है। कोई व्यक्ति कहता है कि हमारे जीवन में कोई स्वार्थ नहीं है, केवल लोक-सेवा है तो लोग उसे अधिक महत्त्व देते हैं। कोई व्यक्ति कहे कि मेरे जीवन में स्वार्थ है, लोभ है तब तो उसे हीन दृष्टि से देखा ही जाएगा।

ऐसी स्थिति में दम्भ जब लोभ के साथ जुड़ जाता है तो ठीक वही यहाँ विश्वामित्र के जीवन में दृष्टिगोचर हुआ। उन्होंने सीधे यह नहीं कहा कि यह गाय मुझे दे दीजिए। उन्हें लगा कि एक राजा होने के नाते प्रजा को अधिक-से-अधिक सुखी और सन्तुष्ट करना मेरा कर्त्तव्य है। तो उन्होंने कहा कि आपके पास यह जो कामधेनु गाय है इसका सही सदुपयोग आपके यहाँ तो नहीं हो रहा, यद्यपि मैं आपके आश्रम में आया तो आपने मेरा इतना सत्कार कर दिया। अतः यह नन्दिनी गाय यदि आप हमें दे दें तो हम सारे समाज के लिए, सारे देश के लिए इसका सदुपयोग कर सकते हैं। और आपको यदि कुटिया में ही रहना है और यज्ञ के लिए घी की आवश्यकता है, ब्रह्मचारी और महात्माओं के लिए दूध चाहिए तो इसके बदले में मैं दस

हजार गाएँ भेज देता हूँ। तो इस प्रकार उन्होंने उदारता का भी दर्शन कराने की चेष्टा की कि मैं बदले में अधिक संख्या में वस्तु दे रहा हूँ। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी बताने की चेष्टा की कि मेरा उद्देश्य अपने लिए नहीं सारी प्रजा के लिए है।

यह इच्छा और दम्भ का जो स्वरूप उनके जीवन में था, राजा के रूप में यह वृत्ति जब उनके सामने आई तो वशिष्ठजी ने उसे अस्वीकार कर दिया। वशिष्ठजी यह जानते थे कि यदि कामधेनु कहीं ऐसे लोगों के पास होने लगे जिनके जीवन में द्वेष है, ईर्ष्या है और अन्य प्रकार की दुर्वृत्तियाँ हैं तो वे कामधेनु का तो दुरुपयोग करेंगे ही। वे तो कामधेनु से वही वस्तु माँगेंगे जो केवल उन्हें ही मिले और दूसरों को न मिले या दूसरों को कष्ट मिले। इसलिए उन्होंने कहा कि नहीं, यह तो सम्भव नहीं है। तब राजा विश्वामित्र एक बलात् प्रयोग करते हैं। राजा को अपने बल पर गर्व है, शस्त्रों पर गर्व है। एक साधु यदि मेरी बात को इस प्रकार से अस्वीकार करता है तो हम इसे बलपूर्वक छीनकर ले जाएँगे। हमारा अधिकार है। और जब उन्होंने छीनने की चेष्टा की तो वह चेष्टा उनके लिए बड़ी महँगी सिद्ध हुई क्योंकि वशिष्ठ के ब्रह्मदण्ड के समक्ष उसका सारा बल, सारा पौरुष व्यर्थ चला गया।

राजा ने अपने जीवन में पराजय का अनुभव किया। रजोगुणी वृत्ति जाग्रत हुई। तमोगुणी वृत्ति से प्रेरित होकर उसने मुनि पर आक्रमण करने की भी चेष्टा की। और फिर उसके बाद उसके मन में आता है कि कैसे मैं वशिष्ठ को हराऊँ? तब वे कठिन तपस्या करते हैं। अनेक दिव्य शस्त्रों को उन्होंने अपनी तपस्या के द्वारा पा लिया। मानो उनके जीवन में पुरुषार्थ और भी अग्रसर हो रहा है। किन्तु उन शस्त्रों को लेकर जब उन्होंने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के आश्रम पर आक्रमण किया तो फिर से उन्हें पराजित और लज्जित होना पड़ा। और तब उनके हृदय में एक वृत्ति का जागरण होता है, मानो पुरुषार्थ ने उनको ईर्ष्यालु तो बनाया ही है। लेकिन अब उनको लगा कि अरे! एक ब्राह्मण के सामने मेरा सारा शस्त्र, प्रयत्न व्यर्थ हो गया और उनके मुख से एक वाक्य निकला—'धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्म तेजो बलं बलः।' क्षात्रतेज तो व्यर्थ है, धिक्कार करने योग्य है, वस्तुतः ब्रह्मतेज ही सब कुछ है। और उसके बाद उन्होंने निर्णय किया कि मैं ब्रह्मतेज प्राप्त करूँगा। और सचमुच उनकी

साधना इतनी प्रबल हुई कि उनकी तपस्या के द्वारा ऐसी अद्भुत उपलब्धियाँ उनके जीवन में हुईं जो उनके पहले इतिहास में किसी के जीवन में दिखाई नहीं देतीं। उस स्थिति में ऐसे महापुरुष जिनका जन्म क्षत्रिय वर्ण में हुआ और उस दृष्टि से वे अगले जन्म में ही ब्राह्मण कुल में जन्म ले सकते थे। पर इसी जन्म में उन्हें ब्रह्मर्षि का सम्मान दिया गया। उन्हें ब्रह्मर्षि के रूप में स्वीकार किया गया।

महर्षि विश्वामित्र की जो तपस्या और पुरुषार्थ की वृत्ति है वह यह सिद्ध कर देती है कि तपस्या और पुरुषार्थ के द्वारा क्या पाना सम्भव नहीं है? आप लोगों में से अनेक लोग जानते होंगे कि विश्वामित्र मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की कोटि में माने गए। गायत्री जैसे दिव्य मन्त्र के द्रष्टा भी विश्वामित्र ही हैं। यह सब विलक्षणताएँ होते हुए भी क्या विश्वामित्र का यह जीवन समाज के लिए आदर्श हो सकता था? क्या वह जीवन पूर्ण था? इसका उत्तर यही है कि उन्होंने अपने जीवन में चाहे जितनी ऊँची उपलब्धियाँ पा ली हों, पर अपने अन्तःकरण की अनेक दुर्बलताओं को वे जीत नहीं पाए। इसे आप इस दृष्टि से विचार कर देखें। ऋषियों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया गया है—'ऋषयो: मन्त्रद्रष्टार:।' ऋषि वह है जो मन्त्रद्रष्टा है। और उसकी धारणा यह है कि जैसे कोई श्लोक बना दे, कविता बना दे तो वह उसकी रचना है। जब वेद-मन्त्रों की रचना के विषय में प्रश्न किया जाता है कि इनकी रचना किसने की? तो आधुनिक शोध करनेवाले अपने ढङ्ग से उसकी खोज करते हैं। लेकिन शास्त्र कहते हैं कि वेदों के रचयिता कोई नहीं हैं, तो फिर मन्त्र कहाँ से आए? इसके लिए कहा गया कि इन मन्त्रों को ऋतम्बरा-प्रज्ञा की स्थिति में ऋषियों ने श्रवण किया। इसलिए वेद के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग करते हैं। और ऋतम्बरा काल में उन्हें जिन मन्त्रों की स्फुरणा हुई, मन्त्र-श्रवण किया गया, वही वेद-मन्त्र के रूप में हमारे धर्म के मूल आधार के रूप में स्वीकार किए गए।

इस ऋतम्बरा-प्रज्ञा शैली को प्राप्त करने की जो पद्धति है वह बड़ी कठिन है। अब आप लोगों में से जिन लोगों की रुचि अधिक गहरे ग्रन्थों में होगी या हो, वे पतञ्जलि योग-दर्शन को पढ़कर समझ सकते हैं कि कैसे कोई व्यक्ति ध्यान, धारणा, समाधि, प्रत्याहार, निर्विकल्प समाधि में पहुँचकर फिर उसके बाद वह स्थिति जिसमें बुद्धि अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, जिसमें न कोई

अहङ्कार है, न कोई मान्यता है, न कोई दोष है। एक ऐसा काल जिस काल में मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने अन्तःकरण की उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसे ऋतम्बरा-प्रज्ञा का नाम दिया गया है, उस तक पहुँचने के लिए व्यक्ति का भक्त होना आवश्यक नहीं है, ईश्वर की भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन व्यावहारिक जगत् में रहते हुए मनुष्य की बुद्धि में, जीवन में विभिन्न संस्कार क्रियान्वित होते हैं। जाति के संस्कार, व्यवहार के संस्कार, समाज के संस्कार। इन संस्कारों के बीच जब हम किसी बात का समर्थन भी करते हैं तो उसमें ये संस्कार मिले-जुले रहते हैं। तो व्यक्ति सामान्यत: संस्कारों से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाता।

पातञ्जलि योग-दर्शन में ईश्वर प्रणिधान की भी बात कही गई है, परन्तु उसे विकल्प के रूप में कहा गया कि—'ईश्वर प्रणिधानात: वा।' ईश्वर के प्रणिधान से भी इसका तात्पर्य है कि जो ऋतम्बरा-प्रज्ञा है, वह मूलत: पुरुषार्थ की चरम उपलब्धि है। इस उपलब्धि का सौभाग्य कुछ थोड़े-से ऋषियों को ही मिला, सभी को नहीं मिला। अब उसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है, पर उसे आप उसी रूप में लेंगे जिस रूप में मैं कहना चाहता हूँ। इस ऋतम्बरा-प्रज्ञा में स्थित होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह व्यक्ति जीवनभर सर्वदा ऋतम्बरा-प्रज्ञा में ही रहता है। ऋतम्बरा-प्रज्ञा तो समाधि की एक भूमिका है। पर उसके बाद, व्यवहार की भूमि में ऋषि भी आएगा, मन्त्रद्रष्टा भी आएगा तो आपको बहुत अन्तर दिखाई देगा। ऋषियों के चरित्र का जो वर्णन आप पढ़ते हैं, उसमें आप देखते हैं, ऋषियों के चरित्र में अनेक ऊँचाई हैं, अनेक महान् गुण हैं और उसके साथ-साथ दोषों का भी वर्णन कम नहीं है।

इसका अभिप्राय है कि जब आप एक ऊँची स्थिति में पहुँचकर व्यवहार की भूमि पर आते हैं तब वही स्थिति विश्वामित्र के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। वे ब्रह्मज्ञ हैं, ब्रह्मर्षि हैं पर उसके साथ जो कथाएँ जुड़ी हुई हैं, वे क्या बताती हैं? जिस तरह से वे अप्सरा मेनका के सौन्दर्य से सम्मोहित हो जाते हैं और शकुन्तला का जन्म उनके माध्यम से होता है, उसका अभिप्राय यही है कि भले ही उस ऋतम्बरा-प्रज्ञा की अवस्था में मन्त्र-द्रष्टा के रूप में उन्होंने अनेक विकारों पर विजय पा ली हो पर जीवन में वह एक पक्ष था जो दिखाई देता है और इसी प्रकार से एक बड़ा निर्दय प्रसङ्ग आता है कि जब वशिष्ठ के

पुत्रों को उन्होंने श्राप देकर भस्म कर दिया। अब उनके पुत्रों को भस्म कर देने में उनका कितना बड़ा क्रोध रहा होगा? मन्त्र से कर दिया, तपस्या से कर दिया यह बात और है। उसका अभिप्राय यह है कि प्राचीनकाल में जो आचार्य होते थे, ऋषि होते थे, वे शिष्य से स्पष्ट कह देते थे कि विदा होते हुए तुम यह ध्यान रखना—

यान्निष्पाकं सुचरितानि तरोपास्याणि नोतरोपाणि।

हमारा जो चरित्र शुद्ध हो वही अनुकरण के योग्य है। यदि हममें कोई कमी है तो उसका अनुकरण नहीं करना चाहिए। ऋषियों के प्रसङ्ग में आप देखेंगे कि भिन्न-भिन्न ऋषियों के स्वभाव में भिन्नता है। उनमें भिन्नता की यह दृष्टि सिद्ध करती है कि पुरुषार्थ के द्वारा ऊँची-से-ऊँची अवस्था पाने के बाद भी व्यक्ति नीचे उतर सकता है, नीचे गिर सकता है।

भगवान् के राज्याभिषेक में आपको इसका सङ्केत मिलेगा। भगवान् की स्तुति करने आए वेद यह कहते हैं कि हे प्रभु—

जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।

जो ज्ञान के अभिमान से आपकी भक्ति को स्वीकार नहीं करते तो क्या होता है?

ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरि ।।७/१३/छन्द ३

आप कितने ऊँचे उठ गए, महत्त्व इसका नहीं है। आप इतने ऊँचे उठने के बाद वहीं रहते हैं कि नीचे गिरते हैं? तो इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कथाओं को पढ़कर हम ऋषियों की निन्दा करें। पर उसका अभिप्राय यह है कि ऋषियों का जो जीवन है उसमें भी दो पक्ष हैं। एक ओर जहाँ वे मन्त्रद्रष्टा हैं, उस काल में वे परम विशुद्ध बुद्धि में स्थित हैं, किन्तु जब व्यवहार में आते हैं, वाणी में आते हैं तब उनका व्यवहार उन संस्कारों से मुक्त नहीं होता। विश्वामित्र को लेकर एक-से-एक चमत्कारिक कथाएँ आई हैं। वह प्रसिद्ध गाथा जिसमें राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र त्रिशंकु ने वशिष्ठजी से प्रार्थना की कि वह सशरीर स्वर्ग जाना चाहते हैं तो वशिष्ठजी ने कहा कि नहीं, यह तो सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा जो नियम है, विधि है वह तो उसी के अनुरूप होगा। विधि के बेटे ने कहा कि जो भी होगा, वह तो नियम से ही होगा। लेकिन जो पुरुषार्थी है वह कहता है कि यह विधि क्या है? हम पुरुषार्थ से उसे बदल सकते हैं। और

इसीलिए जब त्रिशंकु ने विश्वामित्र से जाकर कहा और विश्वामित्र ने सुना कि वशिष्ठ ने कह दिया कि यह सम्भव नहीं है तो उनके संस्कार में वशिष्ठ के प्रति जो विरोध था वह पूरी तरह मिटा नहीं था। उन्होंने कहा कि हम यह करके दिखा देंगे। हम तुम्हें सशरीर स्वर्ग भेज देंगे।

आप विचार कर देखिए कि विश्वामित्र की यह कितनी बड़ी तपस्या रही होगी कि उन्होंने त्रिशंकु से कहा कि तुम मेरी तपस्या के प्रभाव से सशरीर स्वर्ग जाओ। और वे सचमुच सशरीर स्वर्ग में प्रविष्ट होने लगे। देवताओं को आश्चर्य हुआ कि यह कैसे स्वर्ग के नियमों का उल्लङ्घन हो रहा है और तब त्रिशंकु को उन्होंने धकेल दिया। अब धकेल दिया तो वह सिर के बल नीचे गिरने लगा। उसने विश्वामित्रजी से पुकार कर कहा कि महाराज, आपने अच्छा स्वर्ग भेजा। और तब उन्होंने कहा कि मेरी तपस्या के बल पर तुम वहीं रुके रहो। अब वह त्रिशंकु शब्द तो आजकल बड़ा प्रचलित है—जो न स्वर्ग में है न मृत्युलोक में। और तब क्या पुरुषार्थ था विश्वामित्र का कि उन्होंने कहा कि इस स्वर्ग का राजा इन्द्र यदि तुम्हें अपने स्वर्ग में नहीं रहने देता तो मैं अपनी तपस्या से तुम्हारे लिए नया स्वर्ग बनाऊँगा। आप कल्पना कीजिए विश्वामित्र के पुरुषार्थ की।

विश्वामित्र ने निर्णय किया कि यदि किसी को स्वर्ग भेजना है तो स्वर्ग की क्या बात है, हम अपनी तपस्या के बल से स्वर्ग भी बना सकते हैं। बड़ा सङ्कट है। त्रिशंकु बीच में लटका हुआ है। और सचमुच वे नया स्वर्ग बनाने लगे। लेकिन मुनियों को, देवताओं को यह पता था कि उनको प्रशंसा बहुत अच्छी लगती है, तो उन्होंने आकर विश्वामित्र की बहुत स्तुति की कि महाराज, कृपा करो। तो वे मान गए। पर वह बेचारा त्रिशंकु तो बीच में लटक गया। विश्वामित्र के अहम् की तो तुष्टि हो गई कि हम बना तो सकते हैं पर अब लोग नहीं कह रहे हैं तो चलो नहीं बनाते। और उसके आगे की कथा बड़ी साङ्केतिक है कि मुँह के बल जब त्रिशंकु लटका रहा तो उसके मुँह से लार टपकने लगी। उस लार से एक नदी बन गई, जिसका नाम है कर्मनाशा। रामायण में उस नदी का नाम कई प्रसङ्गों में लिया गया है। उस अनोखी कथा का जो तत्त्व है वह और भी अद्‌भुत है। अब भी वह नदी तो है, किन्तु बहुत बड़ी नदी फिर भी नहीं है।

यह कर्मनाशा उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा पर बहनेवाली

छोटी-सी नदी है, लेकिन शास्त्र ने तो उसके लिए ऐसा कुछ कह दिया कि वह व्यक्ति को आतङ्कित करने के लिए यथेष्ट है। शास्त्र कहते हैं कि यदि कोई इस कर्मनाशा का जल छू लेगा, नहा लेगा या पी लेगा तो उसके जीवन का सारा पुण्य नष्ट हो जाएगा। अब यह तो बड़ा आतङ्क है। जल छूने न पावे, उसका स्पर्श न हो, तो इस कथा का तत्त्व क्या है? इस पर आप विचार कर देखिए। हमारे पुराण, शास्त्र सभी कुछ ऐसी बातें कहते हैं जो सुनने में बड़ी विचित्र लगती हैं, पर विचार करके देखें तो सही लगती हैं। कहते हैं कि यदि कोई गङ्गा या यमुना में स्नान करे तो उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि कर्मनाशा में यदि कोई स्नान करे तो उसके पुण्य नष्ट हो जाएँगे।

गोस्वामीजी यमुना को कर्म की नदी बताते हैं। मानस के प्रारम्भ में वे कहते हैं—'करम कथा रविनन्दिनी बरनी।' मानो यमुना भी कर्ममयी है और कर्मनाशा भी। कर्म दोनों हैं, पर एक कर्म वह है जो मनुष्य को पाप से मुक्त करता है और दूसरा कर्म वह है जो मनुष्य के पुण्य को, मनुष्य चाहे जैसे कर्म कर रहा हो, उसके पुण्य का विनाश हो जाता है। और उसका सीधा-सा सूत्र यह है कि यमुना का जन्म कैसे हुआ? कहते हैं कि वह सूर्य की पुत्री है—'रवि तनया कर करत बड़ाई।' सूर्य की पुत्री के रूप में उनका परिचय दिया गया। यमुना का सूर्य के द्वारा जन्म हुआ और कर्मनाशा का जन्म हुआ त्रिशंकु राजा की लार से। तो सब कुछ तो इसमें छिपा हुआ है। आपके कर्म के मूल में क्या है? जो कर्म आप जीवन में करते हैं उसके पीछे आपकी धारणा क्या है? लोगों की दृष्टि में कर्म कितना अच्छा दिखाई दे रहा है, महत्त्व केवल इसी का नहीं है। कर्म के पीछे आपकी धारणा क्या है?

सूर्य की पुत्री का अर्थ है कि हमारे जीवन में जो कर्म हो उसके मूल में प्रकाश हो, ज्ञान हो, विवेक हो। तो जब कोई कर्म विवेक से प्रेरित होगा, तो बड़ी मीठी बात है। यमुना कर्म की नदी, जो अन्ततः जाकर गङ्गा में मिलती है और गङ्गा समुद्र में पहुँच जाती है। गङ्गा भक्ति है, यमुना कर्म है और इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई विचारपूर्वक कर्म करता है तो अन्ततः भक्ति में उसके कर्म का समर्पण होता है। समर्पण का परिणाम यह होता है कि ईश्वर का स्वरूप सिन्धु जो है उसमें जाकर कर्म और भक्ति विलीन हो जाती हैं।

पर कर्मनाशा की इतनी निन्दा क्यों की जाती है? कर्मनाशा को लेकर एक ऐसा उपाख्यान है जो उपाख्यान नहीं, सही है।

विवाह आदि कर्मनाशा के कारण रुकते नहीं हैं। उस पार के किसी सज्जन ने काशी में विवाह तय कर लिया। वर काशी का और कन्या कर्मनाशा के उस पार की। पर कन्या पक्ष बड़ा धनी था। बहुत दहेज दे सकता था, इसलिए वर के पिता ने उसे स्वीकार कर लिया। तब वह समस्या उन पण्डितों के सामने आई जो बिल्कुल कठोर रूप से कर्मकाण्डी थे। उन्होंने कहा कि हम विवाह कराने नहीं जाएँगे, क्योंकि उस नदी के साथ एक समस्या है। बरसात में तो उसमें जल बहुत होता है लेकिन दूसरे समय में इतना पानी भी नहीं होता कि उसमें नाव चल सके। घुटने भर पानी तो वैसे ही पार कर लिया जाता है। पण्डितों ने कहा कि नदी पार करने के लिए जैसे ही हम उस जल में पैर रखेंगे, जीवन में जितना पुण्य किया वह नष्ट हो जाएगा, हम वहाँ जाकर क्या करेंगे? तब उपाय क्या किया जाए। ऐसी स्थिति में गाँव के कई हट्टे-कट्टे स्वस्थ युवकों ने कहा कि एक उपाय है। पण्डितों को हम कन्धे पर बिठाएँगे और पार करके ले आएँगे। उनका जल से स्पर्श नहीं होगा, इस प्रकार उनका पुण्य बचा रह जाएगा। और पण्डित लोग कन्धों पर बैठ गए। पर एक बेचारा हट्टा-कट्टा था, पैर फिसल गया। और वह महापण्डित जो थे वे गिर पड़े। अब वहाँ जल तो बहुत नहीं था चोट तो क्या लगती, पर उनको इतना क्रोध आया, बोले—सत्यानाश हो तेरा, तूने मेरा सारा पुण्य नष्ट कर दिया। बस इस कथा के तत्त्व पर आप विचार करके देखिए। क्या तात्पर्य है इसका?

नदी कर्मनाशा के निर्माण के मूल में विश्वामित्र हैं या फिर स्वयं त्रिशंकु राजा। आप देखें तो, कितने बड़े परोपकारी सिद्ध हो रहे हैं विश्वामित्र जी कि भई! स्वयं स्वर्ग जाने के लिए तो लोग प्रयत्नशील रहते हैं, पर दूसरे को स्वर्ग पहुँचाने के लिए अपनी तपस्या का प्रयोग करे, वह तो महा-परोपकारी कार्य है। लगेगा कि धन्य है यह महात्मा। उन्हें अपनी नहीं दूसरों को स्वर्ग पहुँचाने की चिन्ता है। पर याद रखिएगा—यह स्वर्ग में पहुँचाने का अर्थ उनके जीवन में त्रिशंकु को ऊपर पहुँचाना नहीं था। त्रिशंकु को जब वह ऊपर भेज रहे थे तो उनका उद्देश्य था वशिष्ठ को नीचा दिखाना। कर्म दिखाई दे रहा है कि ऊपर उठा रहे हैं, पर उद्देश्य है नीचे ले जानेवाला। त्रिशंकु को जब

मैं स्वर्ग भेज दूँगा तो सिद्ध हो जाएगा कि विश्वामित्र के सामने वशिष्ठ कुछ नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म श्रेष्ठ दिखाई दे रहा है, पर कर्म का उद्देश्य यदि दूसरे को नीचा दिखाना हो, दूसरे को अपमानित करना हो तो कर्म वस्तुतः कल्याणकारी कैसे होगा ?

दूसरी ओर त्रिशंकु की लार टपकने लगी। कोई वस्तु देखी, मुँह में पानी आ गया, तो कहते हैं लार टपकने लगी। और लार माने लालसा। कर्म के मूल में यदि दूसरे को नीचा दिखाने की वृत्ति है अथवा केवल अपनी लालसा पूरी करना ही हमारा उद्देश्य है तो वह कर्म चाहे देखने में अच्छा हो, पर अन्त में वह हमें ऊँचा न उठा करके नीचे गिराता है। इसलिए जो पण्डितजी गिरे, आप गहराई से विचार कर देखिए, वे शरीर से तो बाद में गिरे, मन से तो पहले ही कर्मनाशा में गिर चुके थे। क्यों? बोले, तुम्हारा स्वर्ग चला जाए कोई चिन्ता नहीं, हमारा न जाए। यही उनका उद्देश्य था। तुम मुझे कन्धे पर उठाओ, मैं जल का स्पर्श नहीं करूँगा, तुम जल में पैर रखकर चलो। तो यह जो स्वार्थपरता की प्रवृत्ति अधिकांश लोगों के जीवन में दिखाई पड़ती है, उनका कर्म तो देखने में बढ़िया होता है पर वस्तुतः वह दूसरों को नीचा दिखाने के लिए ही होता है। अच्छे कर्म के साथ यह जो वृत्ति है, केवल अपनी लालसा को पूरी करना अथवा दूसरे को नीचा दिखाना, यह ठीक नहीं है।

यमुना गङ्गा में मिली तो यमुना का गङ्गा में मिलना उचित ही है, पर यह कर्मनाशा भी बहते-बहते अन्त में जाकर गङ्गा में मिलती है और कर्मनाशा का जल जब गङ्गा में जाकर मिल गया, तब यह तो हो नहीं सकता कि गङ्गा जब बहेंगी तो कर्मनाशा के जल को बाहर निकाल देंगी। वह तो कर्मनाशा का जल भी गङ्गा में समा गया। और तब वह कर्मनाशा भी धन्य हो जाती है। इसमें मूल सूत्र यह है कि भई, लालसा-रहित कर्म या अहम्‌रहित कर्म तो बहुत कम लोगों का रहता है। लेकिन गङ्गा में जैसे—

करमनास जलु सुरसरि परई।
तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥२/१९३/७

यदि कर्मनाशा के द्वारा गङ्गा जल अपवित्र हो जाता तो पण्डित लोग निर्णय करते कि कर्मनाशा के पहले हम गङ्गाजल लेंगे, क्योंकि कर्मनाशा के मिलने के बाद गङ्गाजल अपवित्र हो गया। इसका अर्थ यह है कि यदि लालसा और

अहम् से हम मुक्त हो जाएँ तो हम धन्य हैं, पर यदि ऐसा न भी हो तो हम भगवान् से भक्तिपूर्वक निवेदन करें कि हे प्रभु, हमारा कर्म तो अपवित्र ही है, लालसा, स्वार्थ और अहङ्कार से भरा हुआ है, पर आप इसे स्वीकार करें। इस प्रकार वह कर्म जब समर्पित हो जाता है तो अशुभ होते हुए भी धन्य हो जाता है।

विश्वामित्र से सम्बद्ध यह जो कथा है यह दिखाती है कि इतने बड़े महापुरुष, लेकिन उनके चरित्र में अनेक दुर्बलताएँ हैं। उनकी तुलना में वशिष्ठजी की विशेषता क्या है? ऋषयो मन्त्र दृष्टारः में वशिष्ठ से विश्वामित्र का स्थान श्रेष्ठ है। पर अन्त में वशिष्ठ श्रेष्ठ सिद्ध हुए, विश्वामित्र नहीं। एक तो किसी व्यक्ति का बहुत बड़ा हो जाना और बात है और साधुता का जीवन में आना दूसरी बात है। कोई सिद्ध हो जाए, कोई चमत्कारी हो जाए, कोई बड़े-से-बड़ा पद पा ले, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह साधु है। साधुता जीवन का ऐसा दिव्य, अलौकिक गुण है कि जिसके लिए भक्त लोग भी भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥

फिर वही कृपा वाली बात आ गई। मन्त्रद्रष्टा होना पुरुषार्थ से सम्भव है, पर साधु है, वह तो बहुत ही कठिन है। वह साधुता जीवन में कब आएगी?

कबहुँक हौं यदि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥

वि. प. १७२

इस प्रकार से जो वर्णन किया गया, उसमें साधुता का पक्ष वशिष्ठ के जीवन में बहुत विलक्षण रूप में सामने आता है। और परिणाम क्या होता है? कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने चाहे जितना साक्षात्कार किया हो, पर ईश्वर का साक्षात्कार और ईश्वर की प्राप्ति वशिष्ठ को पहले हुई, मन्त्रद्रष्टा ऋषि को नहीं हुई। वे तो बड़े कड़े परीक्षक थे। कहीं हरिश्चन्द्र की परीक्षा ले रहे हैं। प्रसिद्ध है वे बड़े क्रोधी थे। इसलिए श्रीराम और लक्ष्मण जब विवाह के बाद अयोध्या लौटे तो लोगों ने श्रीराम से कहा, अनेक महान् कार्य तो आपने किए, पर—'कौसिक से अति कोही बस किये दोउ भाई।' विश्वामित्र के समान

क्रोधी को वश में कर लेना यह बड़ा कठिन कार्य था। मानो विश्वामित्र के जीवन के चरित्र का यह पक्ष और दूसरी ओर वशिष्ठ के जीवन की यह विशेषता, इतना त्याग, इतनी तपस्या, इतनी ऊँचाई उनकी तुलना में वे सूर्यवंश के पुरोहित हैं।

स्वयं भगवान् श्रीराम से वशिष्ठजी ने अपना संस्मरण सुनाया। जब प्रभु के राज्याभिषेक के बाद रामराज्य हो गया तो एकान्त में वशिष्ठ प्रभु से मिलने आए। प्रभु तो स्वागत करने के लिए खड़े हो गए। गुरुदेव को सिंहासन पर बैठाया और 'पद पखारि पादोदक लीन्हा।' वशिष्ठजी के चरण धोकर आपने पी लिया। जब यह सब कार्य समाप्त हो गया तब वशिष्ठ ने कहा कि मैं तुमसे एकान्त में कुछ बात करना चाहता हूँ। इसलिए यहाँ जितने लोग हैं उन्हें तुम आदेश दो कि इस समय वे यहाँ से चले जाएँ। सब लोग चले गए तो वशिष्ठ ने यही कहा कि महाराज, आज तो नाटक पराकाष्ठा पर पहुँच गया। मैं जानता हूँ कि आप कौन हैं? आप साक्षात् ईश्वर हैं, पर आपका यह अभिनय! जब शिष्य बने तो शिष्य का ऐसा अभिनय किया कि ऐसा अभिनय कौन दिखा सकता है? समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी होकर भी आपने मेरे चरण को धोकर पिया। यह आपके अभिनय की कुशलता है, पर उन्होंने कहा, राम तुम बहुत अच्छे अभिनेता हो, पर मैं भी तुमसे कोई कम अभिनेता नहीं हूँ। क्यों? बोले, तुमने पी लिया तो तुम अभिनय में सफल हुए, पर यह जानते हुए भी कि तुम ईश्वर हो मैंने पीने दिया! यह मेरे अभिनय की भी तो कुशलता है। मैंने कहा कि नहीं भाई, जब नाटक ठीक चल रहा है, जब गुरु बने हुए हैं, तो गुरु, गुरु के रूप में तो ठीक है।

इसके पश्चात् उन्होंने सुनाया कि मुझसे जब तुम्हारे पूर्वज इक्ष्वाकु ने कहा कि ब्रह्माजी ने कहा है कि हम आपको अपना पुरोहित बनाएँ, तो मैंने यही कहा था कि पुरोहित वे लोग ही बनते हैं जिनके जीवन में लालसा होती है, दक्षिणा की भावना या और कोई उपलब्धि, पर मुझे तो कुछ नहीं चाहिए। मैं पौरोहित्य नहीं स्वीकारूँगा—

उपरोहित्य कर्म अति मंदा।
बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही।

इक्ष्वाकु ने ब्रह्माजी से कहा, महाराज, उन्होंने तो नाही कर दिया, अब मैं क्या करूँ? ब्रह्मा आए और उन्होंने कहा कि यह जो तुम इतना त्याग, इतनी तपस्या कर रहे हो, इसका क्या उद्देश्य है? बोले, ईश्वर को पाना। तो ब्रह्मा ने कहा, बस यही मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इसी वंश में परब्रह्म परमात्मा जन्म लेनेवाला है। पुरोहित बनोगे तो पा लोगे और पुरोहिती छोड़ दोगे तो न जाने कब पाओगे? बोलो पुरोहित बनोगे कि नहीं? बोले महाराज—

उपरोहित्य कर्म अति मंदा।
बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही।
कहा लाभ आगें सुत तोही॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा।
होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥७/४७/६-८
तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥७/४८

सोचिए, अन्य महात्मा त्यागी हैं और वशिष्ठ बन गए पुरोहित। लेकिन गहराई से विचार करके देखिए। अन्य लोगों ने वस्तुओं का त्याग किया। और गुरु वशिष्ठ ने भगवान् की प्राप्ति के लिए त्याग के अभिमान को भी त्याग दिया। यह कठिन है। त्याग करना भी कठिन है पर त्याग के बाद त्याग का अभिमान छोड़ना, ऐसा महान् कार्य वशिष्ठजी ने किया और तब उन्होंने एकान्त में कहा कि मैंने इतना अच्छा अभिनय किया इस नाटक के लिए। जिसके लिए मैं पुरोहित बना, इतने दिनों तक मैंने गुरु के कर्तव्य का निर्वाह किया, अब मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ। तब उन्होंने राम को शिष्य के रूप में सम्बोधित न कर यही कहा—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥७/४९

हे प्रभु, मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर में आपके चरणों में मेरा प्रेम कम न हो। मानो अन्तर क्या था? विश्वामित्र बहुत ऊँचे तपस्वी, योगी, ब्रह्मर्षि बन गए, पर साधुता का वह फल जो सर्वश्रेष्ठ है—जो भक्ति और साधुता को पा लेना है, वह उनको जीवन में नहीं मिला। और

इसी का यह परिणाम होता है, पुरुषार्थ की सीमा के बाद जब वह अवसर आता है तब विश्वामित्र को भी वह अनुभव होता है और जो अनुभव प्रत्येक पुरुषार्थी को होता ही है। आप पढ़ते हैं—

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।
अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं।
करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं॥
गाधितनय मन चिंता ब्यापी।
हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥१/२०५/२-५

बस यहाँ ताड़का, मारीच और सुबाहु पर विश्वामित्र विजय नहीं पा सके।

इन ताड़का, मारीच और सुबाहु के सम्बन्ध में गोस्वामीजी कहते हैं कि ताड़का दुराशा है, मारीच दोष है और सुबाहु दुःख है। मानो सङ्केत यह है कि व्यक्ति बहुत ऊँची स्थिति पर पहुँच जाने के बाद भी दुराशा नहीं छोड़ पाता। लगता यही है कि इन्होंने सब छोड़ दिया, पर कवि कहता है कि संसारी लोगों का तो सब कुछ छूटा जा रहा है।

कँपै बर बानि डिगै उर दीठि त्वचा तिकुचै सकुचै मति बेलि।

बुद्धि भी काम कम करने लगी, शरीर का चमड़ा भी सिकुड़ गया, बोलने में भी वाणी में लड़खड़ाहट है। कवि ने वर्णन करते हुए कहा कि यह सब हो रहा है—

लिए सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।

जब वृद्धावस्था आती है तब सब लोग साथ छोड़ देते हैं। सब परिवार के लोग उपेक्षा करने लगते हैं। पूछा कोई साथ में रहता है कि नहीं? बोले—

भगै सब देह दसा जिय साथ रहै दुरि दौरि दुरासा आगै।

यह दुराशा जो है वह साथ नहीं छोड़ती, बल्कि वृद्धावस्था में और बढ़ जाती है। उसको यही उलाहना रहता है कि अरे, लड़के को मैंने पढ़ाया, उसकी इतनी उन्नति कराई, अब क्या उसका यह कर्तव्य नहीं है कि वह मेरी सेवा करे। मैंने जो इसके लिए किया, उसका बदला चुकाएँ—

रहै दुरि दौरि दुरासा आगे।

यह तो गृहस्थ हुआ, पर जो महान् त्यागी है, वह तो छोड़ चुका। नहीं, ताड़का वहाँ भी है। क्यों? बोले—'कोउ कछु कहै।' त्यागीजी ने सब कुछ छोड़ दिया, कुछ नहीं चाहिए, पर इतनी आशा तो बनी ही हुई है कि लोग कम-से-कम यह तो कहें कि ये बड़े त्यागी हैं। यह छूटना बड़ा कठिन है। त्यागीजी सब छोड़ दें, पर लोग मुझे कहें, मानें कि मैं महान् आदमी हूँ। यह आकांक्षा! विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं—**'कोउ कछु कहै देउ कछु कोउ।'**

संसारी लोगों की इच्छा है कि कुछ मिले। त्यागी की इच्छा है कि कोई कुछ कहे। इसी का नाम दुराशा है। तब क्या विश्वामित्र ने दुराशा को जीत लिया था? संसार ने और ब्रह्मा ने भी उन्हें ब्रह्मर्षि कह दिया, पर विश्वामित्र प्रसन्न नहीं थे। किसी ने कहा कि महाराज, आपने संसार के नियम को बदल दिया। ब्रह्मा भी आपको ब्रह्मर्षि स्वीकार कर चुके हैं, फिर भी आप बहुत प्रसन्न दिखाई क्यों नहीं दे रहे? तो उनके मुँह से यही निकला कि हाँ, सबने कह दिया पर वशिष्ठ ने नहीं कहा। अब लीजिए संसार ने कह दिया, ब्रह्मा ने कह दिया, पर वशिष्ठ ने नहीं कहा। अब आप कल्पना कीजिए कि आप अपने आपको एक व्यक्ति से जोड़ दें कि उसने नहीं कहा। इस आशा को छोड़ना बड़ा कठिन है। इसीलिए कहा यह आशा महाठगिनी है।

मारीच के रूप में जो दोष है, वह दोष पूरी तरह से जीवन से दूर नहीं होता। और यह दुःख जो है, यह चाहे संसार का हो या व्यवहार में रहनेवाला व्यक्ति हो, अपने शिष्यों की चिन्ता हो, आश्रम की चिन्ता हो—

बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी।
बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।
अति मारीच सुबाहुहि डरहीं॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं।१/२०५/१-३

तब वह अवसर आया कि जब पुरुषार्थ सम्पन्न महापुरुष को लगा कि न, यहीं से कृपा की बात सामने आती है। मारीच, सुबाहु और ताड़का पर विजय तो केवल भगवान् ही करा सकते हैं और किसी तरह सम्भव नहीं है। तब आप पढ़ते हैं कि कितनी ऊँचाई विश्वामित्र में आ गई कि पूरी

रामायण में आपको उनका क्रोधी रूप कहीं दिखाई ही नहीं देगा। वहाँ तो उनका इतना सुन्दर, इतना दिव्य रूप दिखाई देगा कि पुराणों की कथा सुनकर विश्वास होना कठिन है कि कितनी जल्दी इन्हें क्रोध आ जाता था, कितनी जल्दी ये श्राप दे देते थे। अन्त में उन्हें लगा कि प्रभु कहाँ मिलेंगे? और जब उन्होंने ध्यान से देखा कि प्रभु ने अयोध्या में जन्म ले लिया, महाराज दशरथ के घर जन्म ले लिया। बस धीरे-धीरे एक नई उन्नति हुई। क्या? हजारों-लाखों वर्ष मैंने लगा दिए ब्रह्मर्षि कहलाने के लिए। लोग मुझे क्षत्रिय नहीं ब्राह्मण कहें। मुझे पता होता कि भगवान् क्षत्रिय वंश में जन्म लेनेवाले हैं तो समय क्यों गँवाता? यह मैंने क्या किया?

इससे यह ज्ञात हो गया कि किसी जाति में जन्म लेने से ही व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं हो जाता। भगवान् तो अनेक वर्णों में जन्म लेते हैं।

मीन कमठ सूकर नरहरि।
वामन परसुराम बपुधरि॥

मानो वह गलित हो गया। ब्रह्मर्षि कहलाने में क्या रखा था? और उससे भी बड़ा व्यंग्य यह था कि उस ईश्वर को पाने के लिए अब मुझे उन वशिष्ठ का सहारा लेना पड़ेगा, जिन्हें मैं जीवनभर नीचा दिखाने की चेष्टा करता रहा। और तब फिर ऊँचाई आई। कोई बात नहीं है, भगवान् को पाने के लिए मैं निश्चित रूप से वशिष्ठ का आश्रय लूँगा। मैंने राज्य को छोड़ दिया यह मेरा अभिमान था तो लगा कि हम रहते तो थे वन में और अब ईश्वर को पाने के लिए जाना पड़ेगा महल में। सब अभिमान समाप्त हो गया। काहे का त्याग? यदि ईश्वर ने राजमहल में जन्म लिया है तो मैंने वन में रहकर क्या पा लिया? वशिष्ठ ने पा लिया और मैंने नहीं पाया? यह मेरी कौन-सी बड़ी भारी उपलब्धि हुई और तब जो परिवर्तित विश्वामित्र हैं उनका जीवन एक भिन्न धारा में चल पड़ा।

अभिमान से मुक्त होकर निःसङ्कोच भाव से उस क्षत्रिय कुल के राजा के पास जाते हैं जिससे वे रुष्ट थे और वहाँ जाकर उन्होंने जब श्रीराम और लक्ष्मण को माँगा तो दशरथ हिचकिचाते हैं। तब कैसी अनोखी बात हुई। विश्वामित्र ने सब कुछ पा लिया, पर भगवान् तो वशिष्ठ की कृपा से मिले। जब दशरथ ने कहा कि—'**राम देत नहिं बनइ गोसाईं।**' तो गुरु वशिष्ठ ने

कहा कि नहीं महाराज, देना ही पड़ेगा। तो मानो जब यह समझ में आ जाए कि कुछ-न-कुछ ऐसी स्थिति है कि हम पुरुषार्थ के बाद भी उसको पूरा नहीं कर सकते। दुःख पूरी तरह से नहीं मिटेगा और हमारे जीवन का अभिमान भी पूरी तरह से समाप्त नहीं होगा। तब मानो भक्ति-भावना का उदय हुआ। यही कृपा की ओर अग्रसर होना है। इसके बाद आप देखेंगे कि विश्वामित्र का यज्ञ पूर्ण हुआ और उसके बाद जब जनकपुर की ओर श्रीराम और लक्ष्मण को लेकर ब्रह्मर्षि विश्वामित्र चले तो एक अनोखा दृश्य उपस्थित हुआ।

सामने एक आश्रम है। जन-शून्य है। मनुष्य की तो बात क्या पशु-पक्षी भी नहीं हैं। तब प्रभु ने पूछ दिया कि महाराज, यह आश्रम कौन-सा है? और तब विश्वामित्रजी ने कथा सुनाई। वह भी एक ऋषिजी की गाथा थी, जिन्होंने अहिल्या को दण्ड दिया। जीवनभर की सेवा के स्थान पर उनमें एक क्षण के लिए भी कोई कमी दिखाई दी तो उसे श्राप दे दिया। और तब आप देखेंगे। अब जो बोल रहे हैं वे पुरुषार्थवादी विश्वामित्र नहीं हैं—

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।
सकल कथा मुनि कहा बिसेषी॥१/२०९/१२

तब कथा सुनाकर भगवान् राम से अनुरोध किया—'गौतम नारि' क्या विशेषता है—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥१/२१०

हो गई पुरुषार्थ की सीमा समाप्त। पुरुषार्थ करने वाले मुझको आपको पाने के लिए जाना पड़ा, पर यह पत्थर बनकर भी कितनी धन्य है कि इसका उद्धार करने के लिए आपको आना पड़ा और आना पड़ा तो अब अपनी चरण-धूलि से इसे धन्य कीजिए।

मानो विश्वामित्र को अब लगता है कि जीवन में जो पूरी धन्यता प्राप्त होती है वह तो कृपा के द्वारा ही प्राप्त होती है। और गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।

वह दिव्य रूप में और ऐसी दिव्य स्तुति और उस पूरे प्रसङ्ग को समाप्त करते हुए गोस्वामीजी ने एक दोहा लिख दिया—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥१/२११

सारी चेष्टा के बाद अन्त में सब कुछ छोड़कर भगवान् का आश्रय लेना अनिवार्य है। विश्वामित्र के चरित्र के द्वारा यही प्रेरणा मिलती है।

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय॥

॥ श्री रामः शरणं मम॥

पञ्चम पुष्प

कृपा और पुरुषार्थ का जो स्वरूप रामचरितमानस के विविध प्रसङ्गों में किया गया है वह अद्भुत है और उन्हें अनेक-अनेक दृष्टियों से देखा गया है। पुरुषार्थ और कृपा को विरोध में न देखकर यदि उनका सदुपयोग किया जाए तो वे परस्पर पूरक हैं। यदि दुरुपयोग किया जाए तो पुरुषार्थ एवं अभिमान का उदय होगा और कृपा के नाम पर तमोगुण और आलस्य की वृद्धि होगी, पर दोनों का सामञ्जस्य ही जीवन की पूर्णता है। और इसीलिए महर्षि विश्वामित्र के साथ प्रभु श्रीरामभद्र उनके आश्रम की ओर प्रस्थान करते हैं। तो प्रभु के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उनमें इन दोनों ही के सामञ्जस्य का सङ्केत मिलता है। आप वह सोरठा पढ़ते हैं कि माता के चरणों में प्रणाम करके जब दोनों भाई विश्वामित्र के साथ चले तो गोस्वामीजी का वह सोरठा, जिसमें वे शब्द लिखते हैं—'पुरुष सिंह दोउ बीर।' दोनों ही वीर पुरुष सिंह हैं।

वस्तुतः पुरुषार्थ शब्द पुरुष शब्द का ही प्रतिरूप है। पुरुष के द्वारा जो कार्य सम्पन्न होता है, वह पुरुषार्थ है और सिंह जो है वह पराक्रम और पुरुषार्थ की सीमा है। इसलिए वह बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है कि संसार में जब कोई राजा होता है तब उसे सिंहासन पर बैठाया जाता है, उसका तिलक किया जाता है। प्रश्न किया गया कि सिंह को वन का राजा किसने बनाया? कैसे वह वन का राजा है? तो उस वाक्य में यही कहा गया कि वह तो सिंह के जीवन में स्वतः ही है। उसे न तो किसी के तिलक करने की आवश्यकता है और न तो कोई उसे सिंहासन पर ही बैठाता है। लेकिन वह शब्द कितना साङ्केतिक है। राजा जो बैठता है तो उसके बैठने के स्थान को सिंहासन कहते हैं। मानो सिंह का आसन। सिंह के लिए न तो वेद-मन्त्र पढ़े जाते हैं और न ही तिलक किया जाता है।

हमारी परम्परा में एक वाक्य आता है—'विक्रमार्जितराजस्य स्वयमेवमृगेन्द्रता।' सिंह इतना पराक्रमी है कि उसका राजा पद पराक्रम से प्राप्त हुआ है। उसके लिए किसी तिलक और प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। इसलिए सिंह स्वयं पराक्रम का प्रतीक है। और भगवान् राम भी जब जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं तो उन्हें पुरुषसिंह की उपाधि दी गई। और उसके साथ-साथ सिंह में जहाँ पराक्रम होता है, वहीं क्रूरता भी होती है। सिंह निर्दय ही होता है पर भगवान् राम के चरित्र की पूर्णता यही है कि एक ओर सिंह जैसा पराक्रम उनके चरित्र में दृष्टिगोचर होता है और उसके साथ-साथ उसी सोरठे में दूसरी पंक्ति आप पढ़ते हैं—

कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन॥१/२०८ (ख)

और ये कौन हैं? बोले 'कृपासिंधु'। एक ओर पुरुष सिंह हैं और दूसरी ओर कृपा के समुद्र हैं। मानो भगवान् राम ने अपने चरित्र में ही इन दोनों का सामञ्जस्य समाज के सामने प्रस्तुत कर दिया।

इसका अभिप्राय है कि यदि जीवन में सिंहत्व हो, हिंसा की वृत्ति हो, क्योंकि सिंह शब्द हिंस्र से बना हुआ है, तो हिंसावृत्ति सिंह में हो तो उसमें पराक्रम तो है, पर करुणा नहीं है। इसके विपरीत भगवान् श्रीराम के चरित्र की विशेषता ही यह है कि पुरुष सिंह होते हुए भी वे कृपा के समुद्र हैं। और इसका परिचय भी अगले कुछ छन्दों में मिल जाता है जब महर्षि विश्वामित्र के साथ प्रभु जा रहे थे। तो एक ओर तो उनकी बालसुलभ लीला है, गोस्वामीजी ने उसका वर्णन किया। गीतावली गोस्वामीजी का एक मधुर ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामीजी कहते हैं कि जब प्रभु विश्वामित्रजी के साथ जा रहे हैं तब उनकी छोटी अवस्था है और बच्चों में जो एक बाल चपलता होती है, वह श्रीराम के चरित्र में दिखाई देती है। गोस्वामीजी ने गीतावली में लिखा कि जब चल रहे थे तो मार्ग के किनारे सरोवर था। सरोवर में बड़े सुन्दर कमल खिले हुए थे और श्रीराम को वे इतने प्रिय प्रतीत हुए। उन्हें ऐसा लगा कि क्यों न इस सरोवर से कमल ले आकर गुरुदेव के चरणों में चढ़ा दें, अर्पित कर दें। और जब वे सरोवर में कमल लेने के लिए प्रविष्ट हुए तो श्रीराम की यह बाललीला देखकर सचमुच थोड़ी देर के लिए महर्षि विश्वामित्र श्रीराम के पराक्रम, ईश्वरत्व—सब कुछ भूल गए, चिन्तित हो गए। सरोवर में जल बहुत है, कहीं राम डूब न जाएँ। तो जब ईश्वर के डूबने की चिन्ता हुई तो भगवान्

श्रीराम के बाल-सुलभ स्वभाव का गोस्वामीजी परिचय देते हुए कहते हैं—

पठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत, खग-मृग-बन रुचिराई।

और तब? विश्वामित्र क्या करते हैं—

सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई॥गीतावली, ५२/५

राम क्या कर रहे हो, जल्दी आओ। बस-बस अब आवश्यकता नहीं है। जल अधिक है। और भगवान् राम अपनी उस बाल-लीला से सम्मोहित कर रहे हैं विश्वामित्र को। उसके बाद यात्रा आगे बढ़ी और सामने वह क्रूर राक्षसी आई, जो मुनियों को खा जाती है, यश को नष्ट कर देती है, जिसका नाम ताड़का है। ताड़का के सामने आते ही श्रीराम बदले हुए दिखाई दे रहे हैं। पूछा, गुरुदेव से ये कौन है? और जब विश्वामित्र ने कहा कि यही वह ताड़का है जिसके द्वारा, जिसके पुत्रों के द्वारा यज्ञ नष्ट होते हैं। तो श्रीराम का सिंहत्व, श्रीराम का पराक्रम दिखाई पड़ा।

गोस्वामीजी ने कहा कि प्रभु ने ताड़का का वध करने के लिए कोई बहुत प्रयत्न तो नहीं किया। केवल अपने तरकश से एक तीर निकाला और 'एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।' मानो इतनी शूरता है, सिंहत्व है कि उन्होंने ताड़का का एक क्षण में वध कर दिया, पर अगले ही वाक्य में गोस्वामीजी जो शब्द लिखते हैं, वह श्रीराम की कृपालुता की पराकाष्ठा है। जब वध कर दिया तो ऐसा लगा कि एक नारी का वध कर दिया। बड़ा कठोर कार्य कर दिया। यह तो हिंसा की वृत्ति है, लेकिन गोस्वामीजी का अगला वाक्य तो यही है—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥१/२०८/६

भगवान् ने जब ताड़का को अपने में लीन कर दिया, एकत्व दे दिया तब मानो यह लगा कि वह जो दिखाई देनेवाली कठोरता और हिंसा की वृत्ति थी उसके अन्तराल में प्रभु ने कृपा करके, इस शारीरिक देह-बुद्धि से, इस द्वैत बुद्धि से ताड़का श्रीराम पर क्रोध कर दौड़ती है, उसे समाप्त कर देते हैं।

इस यात्रा के क्रम में श्रीराम का सिंहत्व और कृपा—दोनों का दर्शन होता है। इसी सन्दर्भ में अहिल्या की कथा आपके सामने कही जा रही थी। अहिल्या शापित है और वहाँ पर जो सूत्र है वह बड़े महत्त्व का है। आप लोग तो सब भिज्ञ हैं। अहिल्या परम सुन्दरी, अद्वितीय सुन्दरी हैं। उनका

निर्माण जब ब्रह्मा के द्वारा हुआ तो इन्द्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि यह परम सुन्दरी तो मुझे ही दी जाएगी, पर ब्रह्मा ने ऐसा नहीं किया। महर्षि गौतम महान् त्यागी, महान् तपस्वी और अहिल्या भी उतनी ही पतिपरायणा, पति की सेविका। और न जाने कितने वर्षों तक पति की सेवा करती रही। पर इन्द्र की जो लोलुप दृष्टि थी और जिस प्रकार से उसने माया के द्वारा रात्रि में प्रातःकाल की सृष्टि कर दी। महर्षि गौतम स्नान के लिए चले गए। इन्द्र छलपूर्वक अहिल्या को अपनी आकांक्षा-पूर्ति का साधन बना लेता है, किन्तु महर्षि को अचानक लगता है कि सम्भवतः मुझे यह भ्रम है कि प्रातःकाल हो गया है। लौट आते हैं अपनी कुटिया में और जब अपने ही वेशधारी इन्द्र को देखते हैं तो श्राप दे देते हैं। दोनों को उन्होंने श्राप दे दिया। इन्द्र को उन्होंने श्राप दिया कि जाओ तुम्हारे शरीर में हजार छिद्र हो जाएँ और अहिल्या को श्राप दिया कि जाओ तुम पत्थर हो जाओ।

इस प्रसङ्ग की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए जो बात गोस्वामीजी ने कही है वह जीवन का मानो एक महान् सत्य है। अहिल्या कौन है? त्रेतायुग में एक नारी है, पतिव्रता है, पति की सेवापरायण है, लेकिन एक क्षण का जो अनजाने में स्खलन है, पतन है, उसका इतना कठोर दण्ड गौतम के द्वारा दिया गया। इसमें आध्यात्मिक सङ्केत यह है, जिसे आप विनय-पत्रिका के पद से समझ सकते हैं। गोस्वामीजी ने प्रभु से कहा कि प्रभु मैंने सुना है कि एक नारी त्रेतायुग में शिला हो गई थी। उसका आपने स्पर्श करके उद्धार कर दिया। मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या आज भी वह सम्भव है? प्रभु ने कहा—कहाँ है वह अहिल्या? और तब वे विनय-पत्रिका में कहते हैं—

सहस सिलातें अति जड़ मति भई है॥ वि. प. १८१/२

मेरी बुद्धि जो है वही अहिल्या है। बहुत बड़े महत्त्व का सूत्र है। इन्द्र पद प्राप्त होता है धर्म से, पुण्य से और गौतम धर्म हैं। तो धर्म के दो फल हैं। या तो धर्म के द्वारा व्यक्ति को स्वर्ग के धर्म प्राप्त होंगे या दूसरा व्यक्ति वह है जो यह मानता है कि धर्म का फल इन भोगों को पाना नहीं है, अपितु वैराग्य है—'धर्म ते बिरति जोग ते स्याना।'

मानो बुद्धि के सामने, अहिल्या बुद्धि है और उसके सामने जीवन के दो दर्शन हैं—एक भोगवादी दर्शन और दूसरा त्याग और ज्ञान का दर्शन। भोगवादी दर्शन के अन्तर्गत एक ओर इन्द्र है जो भोग में संलिप्त रहनेवाला

है, किन्तु दूसरी ओर त्याग और ज्ञान के तपःपुञ्ज महापुरुष गौतम हैं। और जब बुद्धि के देवता ने—'अहंकार सिव बुद्धि अज'—ब्रह्मा ने अहिल्या को महर्षि गौतम को अर्पित कर दिया तो ब्रह्मा मानो यह बताना चाहते थे कि वस्तुतः जीवन का लक्ष्य भोग नहीं हो सकता। भोग तो मनुष्य यहाँ भी भोगता ही रहता है। इसलिए जीवन का लक्ष्य वस्तुतः त्याग है, तपस्या है, वैराग्य है। बुद्धि को उसका अनुगमन करना चाहिए, भोगों का नहीं। किन्तु बड़े महत्त्व का सूत्र है। बुद्धि क्या कभी धोखा नहीं खाती? क्या कभी भ्रमित नहीं होती? क्या वह बड़ी सेवा करने के बाद उसमें स्खलन नहीं होता? और इसका उत्तर है—बड़े महापुरुषों के चरित्र में, पुराणों में और अहिल्या के चरित्र में भी। गौतमजी यह मानकर चले कि कहीं-न-कहीं अहिल्या के मन में वासना छिपी होगी, नहीं तो मेरा वेश बनाकर जब इन्द्र आया तो वह पहचान सकती थी।

निश्चित रूप से बाहर नहीं तो कहीं भीतर वासना का अंश छिपा है और तब उन्होंने उसे पत्थर बना दिया। और उसका अभिप्राय है कि जब हमारी बुद्धि जड़-विषयों से स्वयं को जोड़ देती है तब वह पत्थर हो जाती है, जड़ हो जाती है, पर गोस्वामीजी ने कहा कि प्रभु वह अहिल्या तो एक बार ठगी गई, पर हमारी बुद्धि की अहिल्या की अवस्था तो दिन-रात हजारों अहिल्याओं के समान हो गई है। बुद्धि से हम किसी-न-किसी प्रकार भोगों का समर्थन करते रहते हैं। इसलिए कहते हैं—'सहस सिलातें अति जड़ मति भई है।' तो सारी तपस्या, पातिव्रत धर्म, सेवा, विवेक अन्तःकरण में छिपे हुए किसी-न-किसी क्षण में वासना के द्वारा हमारे जीवन को पतन की ओर ले जाते हैं। यही अहिल्या के जीवन का सत्य है, पर फिर वही प्रश्न है कि कितना भी त्यागी, तपस्वी, साधन-सम्पन्न हो, लेकिन वह यह दावा नहीं कर सकता कि उसके जीवन में एक क्षण के लिए भी बुराई नहीं आई। बुराई को स्वीकार करने के लिए कोई-न-कोई तर्क वह ढूँढ़ लेगा। तब उसका उपाय क्या है? यहीं पर कृपा की आवश्यकता है।

भगवान् की कृपा और व्यक्ति का अभिप्राय यह है कि बुद्धि को आप कितना भी शुद्ध और पवित्र बनाइए, लेकिन कहीं-न-कहीं वह स्खलित होगी, धोखा खाएगी। और तब? दोनों सङ्केत-सूत्र हैं। इन्द्र ने पुण्य का दुरुपयोग किया। स्वर्ग में कितनी अप्सराएँ हैं? और उन अप्सराओं के होते हुए भी

उसकी दृष्टि यदि अहिल्या के सौन्दर्य की ओर जाती है तो इसका अर्थ यह है कि भोगों से व्यक्ति कभी तृप्त नहीं हो सकता। इस जीवन में भोगों से तृप्त न होना तो स्वाभाविक है, पर स्वर्ग में जाकर भी किस स्थिति में भोग-वासना दिखाई देती है, वह इन्द्र का जीवन है। दूसरा पक्ष अहिल्या के जीवन में लक्षित होता है कि इतने त्याग और तपस्या के बाद भी कोई छिपा हुआ संस्कार उन्हें स्खलित कर देता है। और तब इन्द्र के शरीर में हजार छिद्र होने का क्या अर्थ हुआ? जैसे आप घड़े में दूध रख दें, अमृत रख दें, लेकिन घड़े में यदि छिद्र है तब तो वह बह जाएगा।

इन्द्र के शरीर में हजार छिद्र होने का सङ्केत यह था कि यह इन्द्र-पद तुम्हें पुण्य से मिला और पुण्य का फल तुमने भोग बना लिया तो इस भोगासक्ति के कारण तुम कब तक इन्द्र रहोगे? कितने छिद्र तुम्हारे चरित्र में हैं, जीवन में हैं। तुम्हारा पुण्य क्या समाप्त नहीं होगा? इसलिए पुराणों में एक कथा आती है कि अनेक बार इन्द्र को परास्त कर राक्षस स्वर्ग पर अधिकार कर लेते हैं। इसका अभिप्राय है कि सारा पुण्य, सब कुछ होते हुए भी जब व्यक्ति केवल भोगों में संलिप्त होता है तो दैत्य जो पुरुषार्थी हैं वे अपने पराक्रम पर विश्वास करते हैं तभी वे इन्द्र को परास्त करने में भी सफल होते हैं। इस प्रकार अहिल्या और इन्द्र का जो दृष्टान्त है वह यह सिद्ध करने के लिए है कि हम कितने भी बड़े पुण्यात्मा क्यों न हों, कितने ही बुद्धिमान् क्यों न हों, कितने ही अपने जीवन में योग, नियम का पालन करनेवाले क्यों न हों, पर किसी क्षण-पल में किन्हीं संस्कारगत दुर्बलताओं के फलस्वरूप सञ्चित समस्त पुण्यों का क्षय कर बैठते हैं, साधना को विनष्ट कर लेते हैं।

इसका निराकरण कैसे होगा? निराकरण यह है कि जब दोनों गौतम के चरणों में गिर पड़े। यही एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। एक व्यक्ति वह है जो बुद्धि के द्वारा भूल होने पर भूल मान लेता है। जीवन में पतन आने पर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है और एक वह है जो बुद्धि के द्वारा अपने पाप का समर्थन करता रहता है। मानो जो जीवन में अपनी भोग-वासना का अपनी बुद्धि के द्वारा समर्थन करते हैं, वे ही दैत्य और राक्षस हैं। वह एक अलग श्रेणी है। रावण को जीवन में कभी एक क्षण के लिए भी यह नहीं लगा कि जनकनन्दिनी श्रीसीता का हरण करके उसने कोई अपराध किया है, कोई पाप किया है। वस्तुतः असुरों में अपनी कमी को समझने की वृत्ति नहीं है, प्रत्युत

साधक के लिए बड़े महत्त्व का सूत्र है कि हम अपने जीवन में यह स्खलन और पतन होने के बाद यह समझ सकें कि वस्तुतः यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। इस अन्तर के कारण ही हम इन्द्र को देवता और रावण को राक्षस कहते हैं। यद्यपि दोनों में भोग की वृत्ति है, पर एक अन्तर है और तब महर्षि गौतम ने जो सूत्र दिया कि मेरे लिए तो यह सम्भव नहीं है, मैंने तो श्राप दे दिया और बस इसका समाधान यही है कि श्रीराम जब इस पथ पर आएँगे और उनके चरणों की धूल से तुम्हारे शरीर का स्पर्श होगा तभी तुम्हारी जड़ता दूर हो जाएगी, तुम पवित्र हो जाओगी।

इसका अभिप्राय यही है कि जब बुद्धि में जड़ता आ जाए तो बिना भगवान् के चरणों का आश्रय लिए यह जड़ता दूर नहीं होती। इसलिए जब महर्षि विश्वामित्र भगवान् श्रीराम को लेकर आते हैं और श्रीराम से स्पष्ट कहते हैं कि अहिल्या तो किसी साधन के द्वारा आप तक पहुँचने में सक्षम नहीं हो सकती, केवल आप अपने ही स्वभाव से, अपनी ही कृपा से इसे धन्य बना दें। गोस्वामीजी मानस ही नहीं गीतावली, विनयपत्रिका में भी सङ्केत देते हैं। गुरुदेव ने जब श्रीरामभद्र से यह कहा कि अपनी चरण-धूल इस पर डाल दो, तो श्रीराम तो शील और मर्यादा के घनीभूत रूप हैं, बड़े सङ्कोच में पड़ गए। क्या यह अशिष्टता नहीं है? क्या अमर्यादा नहीं है? भई आप किसी के चरण पर सिर रख दें तो यह तो प्रणाम करनेवाले की विनम्रता हुई, पर आप बलात् अपना चरण किसी के सिर पर लाद दें तब तो बेचारे के लिए वह चरण कष्टदायक हो जाएगा। मानो प्रभु को हिचकिचाते देखकर विश्वामित्रजी ने जो वाक्य कहा, वह बड़ा मधुर है। मैं नहीं कह रहा हूँ। तब?

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।

बहुत सुन्दर सङ्केत है। पुरुषार्थी व्यक्ति अधीर होता है, पर जो कृपा चाहता है उसे धीर होना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि पुरुषार्थी यह सोचता है कि सफलता तो मेरे पुरुषार्थ पर निर्भर है, जितना जल्दी करूँगा उतनी जल्दी सफलता मिलेगी। तो जो कृपा चाहेगा, उसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी। तब एक महत्त्व का सूत्र यही है कि पुरुषार्थ में सक्रियता है और कृपा में प्रतीक्षा है—

नाथ कृपाहि को पंथ चितवत दीन हौं दिन-रात।

यह गोस्वामीजी का काव्य है और इसी का सङ्केत श्रीमद्भागवत में आता है—

तत्तेऽनुकम्पांसुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भीर्विधन्नमस्ते जिवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

—श्रीमद्भागवत् पुराण, १०/४/८

व्यासजी उपदेश देते हुए यह कहते हैं कि जो व्यक्ति आपकी कृपा की सुसमीक्षा करता है, समीक्षा और सुसमीक्षा। समीक्षा माने देखना, विचार करना और सुसमीक्षा से अभिप्राय कि और भी अधिक अन्तरङ्ग में पैठकर कृपा के रहस्य को समझना। मानो प्रभु की कृपा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को कभी-कभी दिखाई देती है और कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से वह वैसी प्रतीत नहीं होती।

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान् की इस अनुकम्पा की सुसमीक्षा करता है और विशेषत: जीवन में जब प्रतिकूलता आ गई, कष्ट आ गया, रोग आ गया, सङ्कट आ गया, विपत्ति आ गई तब उसकी दृष्टि क्या होगी? कहते हैं—

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्

यह मेरे किसी पाप का, प्रारब्ध का ही परिणाम है और इसे भोग लेना ही अच्छा है। इससे हम पुरातन पाप से मुक्ति पा लेंगे और इसके बाद—

हृद्वाग्वपुर्भीर्विधन्नमस्ते

जो हृदय से, मन से, वाणी से आपके चरणों में नमन करता है—'**मुक्तिपदे स दायभाक्**'—वह व्यक्ति आपके यहाँ मुक्ति-पद का अधिकारी है।

महर्षि विश्वामित्र ने धीर का बहुत सुन्दर अर्थ किया। मानो अहिल्या में अब और तो कोई गुण हो ही नहीं सकता था। लेकिन उन्होंने यह कहा कि कितनी धैर्यशालिनी है कि न जाने कब से आपके आने का मार्ग देख रही है। अब यों तो कोई आलोचक होता तो कह देता कि पत्थर चलेगा क्या? यह कौन-सा गुण हुआ पत्थर का? पर सन्त की विशेषता यही है कि वे विशेषता निकाल लेते हैं। बोले—महाराज, यह धैर्य धारण करके भक्त लोग कृपा का मार्ग देखते हैं। चलकर नहीं मिल सकती तो तत्तेऽनुकम्पाम्।

विनय-पत्रिका के एक पद में गोस्वामीजी ने कहा कि महाराज, अब तो हम आपकी कृपा की प्रतीक्षा ही कर रहे हैं। क्योंकि हमें यह पता नहीं है कि

आपकी कृपा किस मार्ग से आती है, कब आती है। तो उन्होंने यही कहा कि यह तो बड़ी धैर्यशालिनी है, आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। महर्षि भगवान् से यह तो कह सकते थे कि आप अपना कर-कमल इस शिला पर रख दीजिए, यह चेतन हो जाएगी। या आपकी तो आँख में ही ऐसी कृपा है कि एक बार आप दृष्टि डाल दें तो यह धन्य हो जाए। पर उन्होंने कहा कि मैं चाहता तो यह कह सकता था पर यह अहिल्या मानो मुझसे बिना बोले ही यह कह रही है कि—'चरन कमल रज चाहति।' यह स्वयं चाह रही है।

इसका क्या तात्पर्य है? क्या वह मेरे नेत्र से कृपा नहीं पा सकती?—'राम कृपा कर चितवा जबहीं।' मानो विश्वामित्र का तात्पर्य यह था कि महाराज अहिल्या सोचती है कि प्रभु ने यदि नेत्र खोलकर मुझे देखा तो उन्हें मेरा पाप भी तो दिखाई दे जाएगा। इसलिए अच्छा यही होगा कि वे मेरी ओर न देखें, आँख मूँद लें। और यदि हाथ से कृपा करने चलेंगे तो उनके हाथ में धनुष-बाण है जो अन्यायी को दण्ड देने के लिए निर्मित हुआ है। इसलिए कर-कमल से भी मैं कृपा की बात नहीं सोचती। तब? बोले 'चरन-कमल'। क्यों? बोले, चरणों में जो कृपा का रूप है वह बड़ा अनोखा है। चरणों से ही गङ्गा निकली है और गङ्गा ही कृपा का ऐसा रूप है जिसमें जाति-पाँति, कुल-धर्म, पापी-पुण्यात्मा किसी का कोई भेद नहीं है। तो आपके जिन चरणों से गङ्गा निकली हैं, उन्हीं चरणों की धूल अहिल्या चाहती है। आप उन्हें यही दे दें। भगवान् ने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया।

अहिल्या भगवान् की चरण-धूलि पाकर धन्य हुई। उसके पश्चात् महर्षि गौतम उन्हें लेने के लिए स्वयं आते हैं—

गौतम पधारे तिय गौनो सो लिवाय के।

यह नहीं कि यह समझा कि चलो कि पापिनी को हमने क्षमा कर दिया। तो जैसे विवाह होता है उसमें तो मिलता ही है पर जब गौने में आएगा तब तो कुछ-न-कुछ अतिरिक्त मिलेगा ही। तो महर्षि गौतम को लगा कि बहुत अच्छा है। अहिल्या को वह मिल गया है जो मुझे नहीं मिला। ब्राह्मण मुनि मानकर भगवान् राम अपना चरण तो मुझे देंगे नहीं और अहिल्या ने पा लिया।

गौतम पधारे तिय गौनो सो लिवाय के।

और अहिल्या जब जाने लगीं तो अहिल्या ने कह दिया, अहिल्या का वह

बहुत सुन्दर वाक्य था—'**बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी।**' महाराज, मैं बुद्धिमती कही जाती हूँ, पर कितनी भोली बुद्धि थी। ठग ली गई। तो—

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥

मन तो भौंरे की तरह है, भौंरा तो जहाँ रस देखता है वहीं आकृष्ट हो जाता है। लेकिन आपके चरण-कमल मकरन्द का पान यदि मेरा मन भ्रमर करेगा तो फिर किसी सांसारिक आकर्षण की ओर वह बुद्धि और वृत्ति नहीं जाएगी। मानो वह सामञ्जस्य है और इसीलिए जीवन में कृपा की आवश्यकता है। व्यक्ति इसे यदि गहराई से देखे तो अनेक बार जाने-अनजाने में हमसे भूल होती है, स्खलन होता है।

भगवान् श्रीराम अहिल्या का उद्धार कर अपनी यात्रा में आगे की ओर बढ़ते हैं तो उस प्रसङ्ग में गोस्वामीजी बहुत मीठी बात लिखते हैं कि श्रीराम को देखकर यह बिल्कुल नहीं लगता कि वह अहिल्या-उद्धार का बहुत बड़ा कार्य करके जा रहे हैं—'चले राम लछिमन मुनि संगा।' उन्होंने गुरुजी से प्रश्न किया कि अनजाने में यदि कोई अपराध हो जाए तो क्या उसके लिए कोई ऐसा प्रायश्चित है जिससे तत्काल उससे लाभ हो। गुरुजी ने हँसकर पूछा—कौन-सा ऐसा पाप हो गया? बोले, एक महात्मा की पत्नी को मैंने अपने चरण से छू दिया। कृपा की पराकाष्ठा क्या है? कृपा में भी कृपालुता का यदि अभिमान हो जाए कि मैं बड़ा कृपालु हूँ और इस पर कृपा कर दी। तो कृपा करनेवाला तो अभिमानी हो गया। भगवान् राम ने पूछा कि इस भूल का प्रायश्चित क्या है? विश्वामित्र ने कहा तो फिर गङ्गा में नहा लो। व्यंग्य था कि गङ्गा तो तुम्हारे चरणों से निकली है। बड़ी उदारता से बरसा दिया तो बादल क्या समझेगा? सही बात है। बादल तो यह जानता ही है कि बरसना उसका स्वभाव है, उसकी प्रकृति है। मानो उस साधना के तत्त्व के साथ-साथ कृपा का जो सामञ्जस्य है, वह इस प्रसङ्ग में आपको दृष्टिगोचर होता है। फिर आगे चलकर महाराजश्री जनक का जो यज्ञ है और उस यज्ञ के पश्चात् एक बड़े महत्त्व का सङ्केत आता है।

इस साधना और पुरुषार्थ में जहाँ अनेक गुण हैं, वहीं एक बहुत बड़ी कमी है कि जो पुरुषार्थी या साधक होता है उसे अपने सद्गुणों की विशेषता के कारण किसी-न-किसी प्रकार का गर्व तो होता ही है, सात्त्विक गर्व ही

सही। आप देखेंगे कि महाराज जनक बड़े ज्ञानी हैं, निष्काम कर्मयोगी हैं और उनके यहाँ जनकनन्दिनी का प्रकाट्य हो गया है। उसके पश्चात् जो कथा आती है वह बड़े आध्यात्मिक रहस्य से परिपूर्ण है। उसमें सङ्केत मानो यह है कि एक यज्ञ तो महाराजश्री दशरथ ने किया था—पुत्र पाने के लिए। श्रीराम को उन्होंने पाया। विश्वामित्र का भी जो यज्ञ है उसके सम्बन्ध में विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी कहते हैं—

पद-राग-जाग चहौं कौसिक ज्यौं कियो हौं।

भगवान् के चरणों में अनुराग प्राप्ति के लिए किया जानेवाला जो यज्ञ है, वह विश्वामित्र का यज्ञ है। और उसके पश्चात् महाराज जनक! निष्काम कर्म-योगी हैं। कोई रञ्चमात्र आकांक्षा भी उनके जीवन में नहीं है। तत्त्वज्ञ हैं। जहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने अनेक महामुनि आते हैं—

जासु ग्यानु रबि भव निसि नासा।
बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥२/२७६/१

वे महामुनि भी आकर जिनसे शिक्षा प्राप्त करते हैं ऐसे महापुरुष हैं और तब, उनके जीवन में भी एक आकांक्षा है और वह बड़े ही आध्यात्मिक रहस्यों से परिपूर्ण है।

श्रीराम जब जनकपुर में आते हैं तो जनकनन्दिनी की सखियाँ ही नहीं, जनकपुर निवासिनी स्त्रियाँ भी जब भगवान् राम की सुन्दरता को देखती हैं तो उन्हें लगता है कि ब्रह्मा ने इनका निर्माण सीता के लिए ही किया है। पर प्रश्न यह है कि देखने में तो बड़े सुकुमार लग रहे हैं, धनुष इनसे कैसे टूटेगा? तो सखी ने कहा कि अच्छा यही होगा कि इनको देखकर जनक अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दें। क्या तुम कल्पना कर सकती हो कि जनक प्रतिज्ञा छोड़ सकते हैं? तो उस भावभरी जनकपुरवासिनी ने कहा कि आज जनक के ज्ञान की परीक्षा है। राम को देखकर यदि ये प्रतिज्ञा छोड़ दें तो ज्ञानी और न छोड़ें तो महा अज्ञानी। तो यह तो एक नई परिभाषा हो गई—

जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू।
पन परिहरि हठि करइ बिबाहू॥१/२२१/२

सखि परंतु पनु राउ न तजई।
बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥१/२२१/४

प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते हैं तो इसका अर्थ है कि ब्रह्मा ने इनकी बुद्धि का हरण कर लिया है। यह प्रतिज्ञा है कि हठ? पर आश्चर्य है। जनकजी ने श्रीराम को पहचान लिया। विश्वामित्र के साथ देखते ही उन्होंने कह दिया। वे एकटक श्रीराम को देखते रहे और तब उन्होंने विश्वामित्र से पूछा—महाराज, ये कौन हैं? महाराज श्री जनक से विश्वामित्र ने हँसकर कहा, तुम तो बड़े तत्त्वज्ञ माने जाते हो। तुम्हें क्या लगता है? बोले—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय बेष धरि की सोइ आवा॥१/२१५/२

मुझे तो लगता है कि ब्रह्म ही दो वेश बनाकर आ गया है। इतनी पैनी दृष्टि। लेकिन बात बड़ी अटपटी है।

जनकपुरवासिनियाँ राम को ईश्वर के रूप में नहीं जानतीं, पर उनको लगता है कि जनक को प्रतिज्ञा छोड़ देनी चाहिए और जनक श्रीराम को पहचानते हैं। प्रतिज्ञा छोड़ क्यों नहीं देते? लेकिन गोस्वामीजी ने जो सूक्ष्म आध्यात्मिक सङ्केत किया है वह बड़े महत्त्व का है। महाराज जनक की प्रतिज्ञा है कि उसी को मेरी कन्या वरण करेगी जो शिव के धनुष को तोड़ देगा। इसमें सङ्केत यह है कि कन्यादान समर्पण है, ममता का त्याग है। पिता जिसे आज तक अपनी कन्या मानता रहा जब उस कन्या को समर्पित कर दिया तो अपनी ममता को उसने अर्पित कर दिया। वहाँ कन्यादान का जो सूत्र है, साधारण प्रसङ्ग में भी उसे महत्त्वपूर्ण माना गया है, पर आध्यात्मिक सन्दर्भ में इसका तात्पर्य और भी गहरा है, रहस्यपूर्ण है। क्या? जब व्यक्ति ने कन्यादान किया या व्यक्ति ने अपने घर में प्रेम से पाली गई कन्या को दिया तो देने के बाद उसके मन में देने का अभिमान हुआ कि नहीं? मैं दाता हूँ। जैसा कि रामायण में दक्ष को लगा कि मैं दानी हूँ और शङ्कर दान लेनेवाले हैं। इसलिए दक्ष प्रजापति चुने जाने के बाद ब्रह्मा की सभा में गए तो सभी देवता, मुनि सम्मानार्थ उठ खड़े हुए। दक्ष ने वहाँ दृष्टि उठाकर देखा कि कोई बैठा तो नहीं रह गया? देखा तो बैठे हुए हैं शङ्करजी! अरे! मेरा दामाद होकर नहीं उठा? बस। मैं इसका श्वसुर हूँ। मैंने इसे अपनी कन्या दी है। इसे तो सबसे पहले उठकर मेरा स्वागत ही नहीं, अपितु दण्डवत करना चाहिए था। ऐसी दुराशा दक्ष के मन में थी।

इसका सूत्र यह है कि महाराज जनक जो समर्पण यज्ञ करना चाहते हैं

उस समर्पण के पीछे भी एक प्रश्न है। जब आप समर्पण करते हैं, तो मैंने इस वस्तु का समर्पण किया, ऐसा एक सात्त्विक अभिमान तो आता ही है। इस वस्तु का मैंने समर्पण किया। यह जो धनुष है यह क्या है? यह साक्षात् पवित्रतम अहङ्कार का प्रतीक है, शिव का धनुष। जनकजी का तात्पर्य है कि समर्पण के पहले, हमारी ममता के पहले अहन्ता नष्ट हो जाए। 'मैं' टूट जाए। तब सही अर्थों में समर्पण होगा, कन्यादान होगा। उस समय देने का एक जो औपचारिक स्वरूप है, उसको स्वीकार करूँगा।

जनकपुर की भावुक स्त्रियों ने श्रीराम को देखकर सब कुछ छोड़ दिया तो जनक को और क्या, बस प्रतिज्ञाभर उनको छोड़ देनी चाहिए। और दृष्टान्त बहुत सुन्दर दिया—'पारस जो घर मिलै सुमेरु कि जाई।' किसी ने सुना कि सोने का पहाड़ है। अच्छा! तो हम जाएँगे सोने के पहाड़ से सोना लाएँगे। सबेरे उठे तो कोई महात्मा आ गए। उनके पास पारस पत्थर था। उन्होंने कहा कि यह पारस है, घर बैठे चाहे जितना सोना बना लो। 'पार्वती मंगल' में एक सखी कहती है कि इसको सुनने के बाद भी यदि कोई कहे कि मैंने तो प्रतिज्ञा की है, मैं तो सुमेरु पर्वत पर जाऊँगा ही, तो उससे बढ़कर अविवेकी कौन होगा? 'पारस जो घर मिलै सुमेरु कि जाई।' जब राम जैसा पारस सामने है तो यह प्रतिज्ञा का सुमेरु किस काम का?

जनक दृढ़ थे। लेकिन एक बड़े महत्त्व की बात है। इतना ज्ञान था जनक को, सब कुछ था। महाराज जनक के बन्दी ने गाकर सूचना दी कि जो धनुष तोड़ेगा···· और श्रीराम अविचल भाव से बैठे हुए हैं। यह क्या हुआ? भगवान् राम को जनक पहचानते हैं। श्रीराम तो परम उदार हैं। जनकनन्दिनी के प्रति उनका प्रेम विख्यात् है, उठकर तोड़ देते! पर बहुत बड़ा सूत्र है। क्या? जनक के जीवन में भी एक बड़ा अभिमान है धनुष के रूप में। शङ्कर के धनुष टूटने की बात तो है, पर उनको जो अभिमान है, हुआ करता है। बड़ा कठिन है। क्या? जो स्वयं उनके मुँह से निकला कि 'सहज बिराग रूप मन मोरा।' जिस वैराग्य के लिए बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुष बड़ी तपस्या करके तब उस वैराग्य को पाते हैं, पर यहाँ तो सहज रूप से वैराग्य ही वैराग्य है। अन्य वस्तु के अभिमान की बात जाने दीजिए।

आप ज्ञान दीपक के प्रसङ्ग को गहराई से पढ़ते होंगे या पढ़ेंगे तो पाएँगे कि जब वैराग्य की मक्खन से तुलना की गई तब बताया गया कि कैसे गाय

लाई जाए, उसे कैसा चारा खिलाया जाए, कैसे दूध दुहा जाए, कैसे दूध को गरम किया जाए, कैसे दही जमाया जाए। तब उसके बाद लिखा हुआ है—

तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता।
बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥७/११६/१६

विमल वैराग्य का मक्खन निकल आया। पर दिया जलाने के लिए यदि आप मक्खन डाल देंगे तो गड़बड़ होगा। आप मक्खन से दिया जलाने की चेष्टा कीजिए। पहले मक्खन को घी बनाइए तो दिया ठीक-ठीक जलेगा। क्यों? बिना घी बनाए दिया जलाएँगे तो दिया थोड़ा जलेगा, फिर चिड़चिड़ाहट होगी। वैराग्य को भी पहले आग पर तपाइए और उसमें जो बचा हुआ चिड़चिड़ापन है, जो अहम् का प्रतीक है, उसे मिटाइए। मानो जनक बहुत बड़े त्यागी, बहुत बड़े निष्काम कर्मयोगी हैं, पर 'मैं विरागी हूँ।' पर कृपा तो तब होती है कि जिसमें जो अभिमान है, वह छूट जाए। और वह सचमुच ऐसा छूटा, प्रभु तो बैठ गए।

जनक ने देखा, सारे राजाओं ने प्रयत्न किया, असफल हो गए। तब वह वैराग्य का अभिमान कहाँ चला गया? जब जनक ने देखा कि धनुष नहीं टूटा तो—

नृपन्ह बिलोकि जनकु अकुलाने।
बोले बचन रोष जनु साने॥१/२५०/६

और कह दिया—

तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥१/२५१/४

प्रभु को हँसी आ गई। वाह विरागीजी! अब रोने लगे कन्या के विवाह के लिए। जनक कहने लगे, क्या करूँ—

सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥१/२५१/५

यदि प्रतिज्ञा छोड़ देता हूँ तो पुण्य जाता है, नहीं तो मेरी कन्या का विवाह नहीं होता है। सचमुच इस वाणी से पता चल गया वैराग्य का। तब एक वैराग्य, जो आया था अयोध्या से और उस वैराग्य का घनीभूत रूप थे लक्ष्मणजी—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥२/३२१

लक्ष्मण से फटकार माने? इस विरागी को महाविरागी की फटकार मिली।

क्या ये ज्ञानी हैं? सुनते थे कि बड़े ज्ञानी हैं। देखकर कहने लगे राम ब्रह्म हैं। देखते ही एक क्षण में मान लिया कि राम ब्रह्म हैं और आप जिन्हें पुत्री मानते हैं, इतने दिनों में भी उन्हें नहीं पहचाना। यह कैसा ज्ञान है? यदि वे पहचान जाते तो क्या उनके मुँह से यह निकलता कि मेरी कन्या कुँआरी रह जाएगी? और जनक के मुँह से निकल गया कि कोई ऐसा हो ही नहीं सकता कि जिसके मन में कोई लोभ न हो। मानो विरागियों को यह लगता है कि विरागी हूँ तो मैं ही हूँ और कोई नहीं। मुँह से निकल गया था—'**कहहु काह यह लाभ न भावा।**'

लक्ष्मणजी महानतम समर्थ हैं। सब कुछ कर सकते हैं। उन्होंने महाराज जनक को सचेत कर दिया। फल यह हुआ कि जनकजी में वैराग्य का जो सात्विक अभिमान था, वह नष्ट हो गया। तब गोस्वामीजी कहते हैं अब राम से अनुरोध करते हैं जनक। अब कृपा का अवसर आ गया। अब विरागजी के विराग का अभिमान भी समाप्त हो गया। और तब आप देखते हैं कि प्रभु श्री रामभद्र के द्वारा वह धनुर्भङ्ग की लीला सम्पन्न होती है। मानो यह बताने के लिए कि साधना और पुरुषार्थ में उच्च-से-उच्च स्थिति—वैराग्य प्राप्त करने के बाद भी मैं वैराग्यवान हूँ—यह धारणा बनी रहती है। जब यह मिट जाए तो भगवान् की कृपा और तब जनक को लगता है कि—

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई।१/२८५/६

मैं कृतकृत्य हो गया। मानो अब अहन्ता मिट गई, वैराग्य का अभिमान मिट गया। भगवान् तो परम कृपामय हैं ही। इस प्रकार से यह पुरुषार्थ और कृपा का सामञ्जस्य इस प्रसङ्ग में है।

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय ॥

॥ श्री रामः शरणं मम ॥

षष्ठम पुष्प

पुरुषार्थ और कृपा में एक समस्या समान रूप से उनके एकाङ्गी पक्ष को लेकर उत्पन्न हो सकती है। इसे एक प्रसङ्ग के माध्यम से समझा जा सकता है। ब्रह्मा व्याकुल होकर देवता और मुनियों की ओर से निवेदन करते हैं कि ईश्वर अवतरित होकर इस पृथ्वी का भार दूर करे और रावण के अत्याचार से संत्रस्त समाज को उससे मुक्त करे। उस प्रार्थना के स्वर से द्रवित होकर आकाशवाणी होती है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥१/१८६/१

मैं आप लोगों के लिए मनुष्य रूप में जन्म लूँगा और एक ही रूप में नहीं—'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।' अंशों के साथ मैं मनुष्य रूप में जन्म लूँगा। सूर्य वंश में जन्म लूँगा और पृथ्वी का भार दूर करूँगा। भगवान् का यह स्वर है। भगवान् वहाँ प्रत्यक्ष नहीं थे, उनका स्वर ही देवताओं को सुनाई दिया। और तब देवताओं की दुर्बलता सामने आई। उनकी दुर्बलता के लिए गोस्वामीजी ने एक छोटा-सा शब्द जोड़ दिया—

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥१/१८६/८

सुनकर उनका हृदय शीतल हो गया और वे लौटने लगे। इसमें यह जो एक 'तुरत' शब्द है वह देवताओं के मनोभाव को सूचित करता है। भगवान् के द्वारा जो आश्वासन दिया गया उसमें मुख्य माध्यम ब्रह्मा थे। जब कोई सभा समाप्त होती है तब उस सभा का सञ्चालक यह बता देता है कि अब यह प्रसङ्ग समाप्त हो रहा है, अब आप अपने घरों को लौट सकते हैं। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि देवता तुरत फिरे। जैसे कोई व्यक्ति अत्यन्त उतावला हो कि कब यहाँ से छुट्टी मिले और अपने दैनिक व्यवहार में या

वासनाओं में संलिप्त हो जाए। देवताओं के जीवन की जो यह व्याकुलता, व्यग्रता है, जिसकी अभिव्यक्ति तुरत शब्द के माध्यम से होती है। इसका अभिप्राय है कि उन्होंने एक निश्चिन्तता का अनुभव किया, क्योंकि भगवान् ने उसमें यही कहा था कि मैं आपका भार दूर करूँगा, आप मत डरिए। इसमें उन्हें भगवान् की कृपा का जो दर्शन हुआ कि भगवान् स्वयं हमारे सारे कष्टों का समाधान करेंगे। तब उन्होंने इसका यही अर्थ लिया कि अब समस्या का समाधान तो ईश्वर ही करेगा, ईश्वर की कृपा से हो जाएगा। हम लोग निश्चिन्त होकर स्वर्ग के भोगों को भोगें, आनन्द मनावें। देवताओं की यह मनोवृत्ति है।

कभी-कभी भगवत्कृपा का कोई सङ्केत मिलने पर ऐसी वृत्ति आ सकती है जो देवताओं में आई। किन्तु जब पितामह ब्रह्मा ने देखा कि देवता तो तुरन्त लौटने की स्थिति में हैं, तो उस समय ब्रह्मा ने देवताओं से जो वाक्य कहे उनका तात्पर्य यह न मान लें कि आपका कोई कर्तव्य नहीं है, आपकी कोई भूमिका नहीं है, आपको कोई साधन नहीं करने हैं। और तब ब्रह्मा ने समझाया कि ईश्वर नर के रूप में अवतरित होकर तुम्हारा भार दूर करेगा, तो तुम्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि तुम्हारा भी कोई कर्त्तव्य है। उनका आदेश बड़े महत्त्व का था। उन्होंने कहा—

बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ ॥१/१८७

उन्होंने कहा कि मनुष्य शरीर में भगवान् जन्म-ग्रहण कर रहे हैं और आप लोग वानर शरीर धारण कर भगवान् के चरणों की सेवा में संलग्न रहें। और यही सूत्र बड़े महत्त्व का है।

एक ओर ईश्वर है और सर्वशक्तिमान है, अपनी कृपा के द्वारा ही सब कुछ कर सकता है, लेकिन विवेक के देवता ब्रह्मा कहते हैं कि नहीं-नहीं, स्वयं व्यक्ति को भी यह समझना चाहिए, देखना चाहिए कि भगवान् की कृपा में उसकी स्वयं की अपनी क्या भूमिका होनी चाहिए? इन वानरों के लिए गोस्वामीजी ने जो आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत किया है, 'विनय-पत्रिका' में उसको आप पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि हाँ, साधन और कृपा का कितना बड़ा सामञ्जस्य है। 'विनय-पत्रिका' के उस पद में गोस्वामीजी से पूछा गया कि ये बन्दर क्या हैं? तो उन्होंने उस पद में यही शब्द लिखे—

कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधिसेतु।
—वि. प. ५८/८

ये बन्दर नाना प्रकार के मोक्ष के साधन हैं, पर बड़ी अनोखी बात है। ये देवता तो रावण के सामने टिक ही नहीं पाते थे। जब कभी युद्ध हुआ तो राक्षसों के सामने देवता परास्त हुए, इन्द्र भी हारा। और उन्हीं देवताओं को वानरों के रूप में जन्म लेने के लिए कहा गया, आज्ञा दी गई। आप यह भी पढ़ते हैं कि अनेक ऐसे अवसर आते हैं कि जब बन्दरों ने आक्रमण करके राक्षसों को परास्त किया। राक्षस उनके सामने से भागे। क्या सूत्र है?

इसका अभिप्राय यह है कि मानो जो देव-शरीर उन्हें प्राप्त था जिसके द्वारा वे स्वर्ग में गए उस समय उनके जीवन का लक्ष्य भोगों को भोगना था। जो हमने सत्कर्म किया, पुण्य किया उनका भोग, यहाँ नहीं कर पाए। उसको हम स्वर्ग में जाकर, क्योंकि स्वर्ग में वृद्धावस्था नहीं होती, रोग नहीं होते, तो स्वर्ग में विषयों के विशद भोग कर सकेंगे। यह देववृत्ति है। वही देववृत्ति अब बन्दर बन जाए? इसका अर्थ क्या है? कि अब जो साधना हो वह पुण्य के फलस्वरूप भोगों को प्राप्त करने की न होकर भगवान् की सेवा की भावना से की जाए।

अपनी भोग-वासना की तृप्ति के लिए जो कर्म किया जाता है तो उससे व्यक्ति को भोग ही प्राप्त होते हैं, पर व्यक्ति जब यह निर्णय कर ले कि नहीं, सत्कर्म का फल भगवान् के चरणों की सेवा है। यही साधना का महानतम सूत्र है। वही देवता जो भोगों में रत थे, बन्दर बनते हैं और उसमें वाक्य उन्होंने जोड़ दिया—

बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ।

आपको वानर शरीर जो ग्रहण करना है, वह भोगों के लिए नहीं है। वानर शरीर में आपको ऐसे भोग उपलब्ध नहीं हो सकते। वानर शरीर तो भगवान् की सेवा के लिए है। और तब यह सङ्केत सूत्र आता है कि सारे देवताओं ने बन्दरों का शरीर ग्रहण किया। उनमें से कुछ बन्दरों का साङ्केतिक परिचय भी दिया गया। ब्रह्मा ने केवल देवताओं से यह नहीं कहा कि आप लोगों को वानर बनना चाहिए। स्वयं पितामह ब्रह्मा जाम्बवान के रूप में जन्म लेते हैं। ये जो जाम्बवान हैं उनका रीछ के रूप में बहिरङ्ग वर्णन किया गया है। हनुमान्‌जी के बारे में तो आपने बार-बार सुना होगा कि हनुमान के रूप में

शङ्करजी ही जन्म लेते हैं। रुद्रांश से वे प्रगट होते हैं। और इसी प्रकार से ये जो बालि हैं, इन्द्र ही जन्म लेते हैं बालि के रूप में। सूर्य के अंश से सुग्रीव जन्म लेते हैं। इस तरह ये सारे बन्दर देवताओं के ही एक भिन्नरूप हैं। और आगे चलकर बहुत विलक्षण साङ्केतिक विश्लेषण किया गया। बड़ा आश्चर्य होता है।

भगवान् की सेवा के लिए जो देवता अवतरित हुए थे, वानर-रूप में जिन्होंने जन्म लिया था, आप पढ़ते हैं कि वहाँ बालि और सुग्रीव में विरोध हो गया और विरोध होने के बाद यह स्थिति आई कि अन्त में भगवान् राम ने सुग्रीव को आश्रय दिया और बालि का वध किया, क्यों? बालि तो इन्द्र के अंश से जन्म लेता है। इनके मध्य यह कथा कैसे पैठ गई? जैसे अन्य वानर योद्धा भगवान् की सेवा में सम्मिलित होकर लङ्का के आक्रमण में साथ हैं, इसी प्रकार से बालि को भी तो होना चाहिए था। पर यही तो सर्वश्रेष्ठ सूत्र है। यह सूत्र मानो यह बताने के लिए है कि कभी-कभी साधक का जो पुण्याभिमान है, साधना का अभिमान है वह किस सीमा तक बढ़ सकता है, इसका प्रतीक है बालि। बालि बड़ा तेजस्वी है, बड़ा पराक्रमी है। उसमें यह जो गाथा जुड़ी हुई है वह बड़े महत्त्व की है कि रावण ने भले ही संसार के समस्त योद्धाओं को परास्त कर दिया हो, पर बालि के सामने उसे परास्त होना पड़ा। बालि ने न केवल रावण को हरा दिया बल्कि उसे अपनी बगल में दबाकर सारे द्वीप में भ्रमण करता रहा। इसका क्या उद्देश्य है? क्या अर्थ है?

बालि की यह वृत्ति मानो इस दृष्टि से है कि इसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता है? अपनी शक्ति से ही हम रावण को हरा सकते हैं। फिर क्यों प्रतीक्षा करें कि भगवान् आवें, उनके द्वारा रावण की पराजय हो। यह बालि का अभिमान था। लगा मानो वह कितना बड़ा पुरुषार्थी था, कितना बड़ा पराक्रमी था कि रावण की उसके सामने एक नहीं चली। रावण को उसने हरा दिया, पर उससे रावण की मृत्यु नहीं हो गई; और यह प्रतीकात्मक व्यंग्य है कि दो विकल्प हो सकते थे कि या तो वह रावण को मार देता, तो मारा भी नहीं। दूसरा विकल्प यह हो सकता था कि वह रावण को हराकर उसके द्वारा पराजय स्वीकार कर लेने के बाद उसे लौट जाने की आज्ञा दे देता, पर उसने एक बीच वाला मार्ग चुना और वह मार्ग था कि वह रावण को बगल में

दबाकर चारों ओर भ्रमण करता है। यह बहुत बड़ा व्यंग्य है और इसका अभिप्राय है कि जब कोई पुण्यात्मा, कोई पुरुषार्थी, कोई साधक अपनी विजय का प्रदर्शन करता फिरे, दिखावा करता फिरे। मानो उसको यह लगा कि यदि मैं किसी से कहूँ, क्योंकि वह जानता था कि रावण तो किसी को बताएगा नहीं कि बालि ने मुझे हरा दिया है और मैं किसी से कहूँ तो शायद कोई विश्वास न करे कि रावण जैसे पराक्रमी को बालि कैसे हरा सकता है? इसलिए बालि ने रावण को बगल में क्या दबा लिया मानो अपनी विजय का प्रमाण-पत्र बगल में दबाए हुए घूम-घूमकर लोगों को दिखला रहा था।

हम लोगों में से अधिकांश लोगों की वृत्ति बालि की इस वृत्ति से प्रेरित होती है। हम अपने श्रेष्ठ कार्य को, सफलता को बार-बार दूसरों के सामने दिखाने की चेष्टा करते हैं। हम बताना चाहते हैं कि हमने कितनी ऊँची स्थिति पा ली है, कितने महान् संग्राम जीते हैं, यह जो बालि की वृत्ति है और यह जो योद्धा है मानो इसका अर्थ यह है कि पुरुषार्थ से भी यह सम्भव है कि व्यक्ति मोहरूपी रावण को हरा दे, पर वह मार नहीं सकता। हरा देने और मार डालने में अन्तर है। उसको काँख में दबा लेने में भी वही व्यंग्य है। रोग को दबा देने की दवा देना और बात है और रोग को मिटा देने की दवा देना दूसरी बात है। रावण जैसे मोहरूपी रावण को इन्द्र अर्थात् पुण्यरूपी जो बालि है, वह उसे दबा सकता है और दबाकर अपना एक अभिमान पालता है। पर गहरी बात यही है कि बालि के जीवन में जो विकृति आई, वह क्यों आई? वह उसके पुण्याभिमान का परिणाम था।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो क्या हनुमान्‌जी रावण को नहीं हरा सकते थे? हनुमान्‌जी में तो बालि की अपेक्षा इतनी अधिक शक्ति है कि इनके लिए तो गोस्वामीजी ने लिखा—'अतुलितबलधामम्।' उनके बल की तौल नहीं हो सकती। जिन हनुमान्‌जी के लिए यह कहा गया कि उनके समग्र बल को तौलना तो असम्भव है। फिर भी कहा गया कि दस हजार हाथियों का बल इन्द्र के ऐरावत में है और यदि दस हजार ऐरावत हाथियों के बल को एकत्र कर दिया जाए तो उतना बल हनुमान्‌जी की एक कनिष्ठा उँगली में है। अब जिसमें इतना बड़ा पराक्रम हो तो क्या वे रावण को चुनौती नहीं दे सकते थे? रावण को नहीं हरा सकते थे? पर नहीं हराया उन्होंने। दूसरी ओर एक बड़ी बात है कि हनुमान्‌जी और सुग्रीव का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है और सुग्रीव

को हनुमानजी इतना महत्त्व देते हैं, सम्मान देते हैं कि वह तो सर्वविदित है। यदि बालि ने सुग्रीव को मारने की चेष्टा की और सुग्रीव चारों ओर भागते रहे तो क्या हनुमान्‌जी स्वयं सुग्रीव को नहीं बचा सकते थे? रावण को भी हनुमान्‌जी मार सकते हैं और सुग्रीव को भी हनुमान्‌जी बचा सकते हैं, लेकिन हनुमान्‌जी ने दोनों ही कार्य नहीं किए। क्यों नहीं किए? बड़ा साङ्केतिक उत्तर दिया गया।

कहा जाता है कि जब प्रभु का राज्याभिषेक हुआ और एक दिन महर्षि अगस्त्य दर्शन के लिए पधारे। प्रभु ने पूजन किया। महर्षि ने जो जिज्ञासा की उसमें एक यह भी थी कि मैं समझता हूँ कि हनुमान्‌जी के समान बलवान इतिहास में न हुआ, न हो सकता है। पर इतनी सामर्थ्य रखते हुए भी उन्होंने बालि को दण्ड नहीं दिया। क्यों? तो उसका उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया कि हनुमान्‌जी को श्राप था कि उनको अपना बल भूला रहता था। यदि यह श्राप था तो यही कहा जा सकता है कि हमें अपनी विशेषता भूली रहे, अपने गुणों का हमें स्मरण ही न रहे, अपने गुणों का अभिमान न रहे तो हमारा जीवन धन्य हो सकता है।

हनुमान्‌जी के जीवन में यह जो गुणों की विस्मृति है वह श्लाघ्य तो है ही, वरेण्य भी है। हमारे और आपके जीवन में दो वस्तुएँ हैं—स्मृति और विस्मृति। पर दुर्भाग्य हमारा यह है कि जिसकी हमें विस्मृति होनी चाहिए उसकी हम स्मृति कर रहे हैं और जिसकी स्मृति होनी चाहिए उसको हम विस्मृत कर बैठे हैं। भगवान् ने हमें यह जो विस्मरण दिया है, यह रामायण की अनोखी भाषा है। एक ओर आपने देखा रावण ने वरदान पाया, कुम्भकर्ण और मेघनाद ने पाया और दूसरी ओर आप पाएँगे कि भगवान् विष्णु को श्राप मिला, हनुमान्‌जी को श्राप मिला, नल-नील को श्राप मिला। तो बड़े आश्चर्य की बात है कि जिन्हें हम आराध्य मानते हैं उन्हें श्राप मिला और जिन्हें हम राक्षस कहते हैं उनको वरदान मिला। यह समझने योग्य बात है। क्या? कि यदि व्यक्ति में राक्षसी वृत्ति हो तो वह वरदान को श्राप बना देगा। यदि हमारे जीवन में साधना की वृत्ति हो तो हम श्राप को भी वरदान बना सकते हैं। और यही सत्य समझने योग्य है।

यह केवल भक्तों के लिए ही नहीं, बल्कि स्वयं भगवान् के सम्बन्ध में कहा जाता है कि भगवान् बड़े भुलक्कड़ हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने जो

निवेदन 'विनय-पत्रिका' में किया है कि माँ, आप कभी मेरी सुधि प्रभु को दिलवाइएगा। माँ ने पूछा, क्या उन्हें भी याद दिलानी पड़ती है? तो तुलसीदासजी ने यही कहा कि हाँ माँ, याद दिलानी पड़ती है। क्यों? बोले—

कबहुँ समय सुधि घायबी, मेरी मातु जानकी।

....

बानि बिसारनसील है मानद अमान की।। वि. प. ४२

जिन लोगों को अपने गुणों की स्मृति बहुत अधिक है, इसका अर्थ है कि अभिमानी व्यक्ति की कसौटी ही यह है कि जिसको स्वयं में जितना अधिक गुण और विशेषता दिखाई दे वह उतना ही अभिमानी है। पर जिसे अपने गुणों और विशेषताओं का विस्मरण हो जाता है, वही व्यक्ति अमानी होता है। प्रभु 'बानि बिसारनसील' हैं। क्यों? बोले 'मानद' दूसरों को सम्मान देते हैं और स्वयं—'बानि बिसारनसील है मानद अमान की।' वे निरन्तर दूसरों को सम्मान देते रहते हैं—'संतत दासन देहु बड़ाई।' पर अपने गुण को भूले हुए हैं।

प्रभु का यह जो स्वभाव है वही उसके प्रिय से प्रिय भक्त के जीवन में होना चाहिए और इसलिए बार-बार आप यह पाएँगे कि भक्त निरभिमानी होते हैं और वे अपने गुणों से, यदि गुण सामने आएँ तो—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही।।२/१३०/३-४

तो मानो हनुमान्‌जी और बालि में यही अन्तर है। हनुमान्‌जी तो साक्षात् रुद्रावतार हैं, शिव के अवतार हैं। घनीभूत विश्वास हैं। इसलिए भी बड़ी सुन्दर बात उन्होंने अपने चरित्र के द्वारा दिखा दी। बोले, मारना और बचाना दोनों प्रभु के काम हैं। मोह मरेगा तो प्रभु की इच्छा से और जीव की रक्षा होगी तो भगवान् के आश्रय से। मानो वे अपनी नहीं प्रभु श्रीरामभद्र की महिमा प्रतिष्ठापित करते हैं, करना चाहते हैं। यही उनकी विलक्षणता है। तो इसलिए यह जो बालि का संस्कार है, वृत्ति है, प्रकृति है कि हम निरन्तर अपने गुणों का प्रदर्शन करते रहते हैं। गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में कहा कि

जैसे कोई व्यक्ति कुछ छिपाकर रखे, तो हम लोग किस वस्तु को छिपाते हैं? धन भी छिपाएँ तो उतना नहीं छिपाते। छिपाते क्या हैं—

किए सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि।

—विनय-पत्रिका, १५८

जितने पाप किए हैं उन्हें इतनी गहराई से छिपाते हैं कि किसी दूसरे को भनक भी न लगने पाए। और 'संग-बस किये सुभ सुनाये' दूसरे की सङ्गति से जो कुछ अच्छा कार्य हो गया—

संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि।

सबको दिखलाते फिरते हैं। बालि का जो चरित्र है, वह यह बताने के लिए है कि बड़े-से-बड़ा साधक देवता पद पाने के बाद भी यदि अभिमानयुक्त है तो अन्ततोगत्वा उसे ईश्वर के बाण का प्रहार झेलना होगा। और उसका गर्व तो बढ़ता ही जाता है। वह बहुत मनस्वी और तेजस्वी है। एक दूसरा प्रसङ्ग भी बालि के जीवन में आता है जिसका वर्णन सुग्रीव ने प्रभु को सुनाया था। एक मय दानव है। यह लङ्का का रचयिता है। इसी मय दानव ने लङ्का को दिव्य रूप में प्रस्तुत किया था। दूसरे राक्षस का नाम मायावी था। मायावी को भी बालि ने हराया। बालि के जीवन में तो कोई पराजय का प्रसङ्ग ही नहीं है। चाहे कितना भी बड़ा योद्धा क्यों न हो, बालि उसकी चुनौती स्वीकार करता है और उसे हरा देता है।

वह प्रसङ्ग आपने अवश्य पढ़ा होगा जब सुग्रीव ने प्रभु को सुनाया कि एक दिन ऐसा विलक्षण अवसर था कि अर्द्धरात्रि के समय मायावी राक्षस ने बालि को उसके महल में जाकर गर्जना की, उसे ललकारा। मायावी का एक गणित है। माना जाता है कि दिन में वानर की बुद्धि और शक्ति काम करती है और रात्रि में वह शक्ति नहीं रहती। राक्षसों के लिए कहा जाता है 'जातुधान प्रदोस बल पाई।' वे रात्रि के द्वारा बलि होते हैं। अब यह जो स्थिति थी इसमें मायावी ने सोचा कि यह बहुत बढ़िया बात है। बालि ने रावण को हरा दिया और मैं यदि उसे दिन में चुनौती दूँ तो मुझे भी बालि हरा देगा। फिर क्यों न मैं अर्द्धरात्रि के समय जाकर गर्जना करूँ और वानर सामने आएगा नहीं। तब मैं कहूँगा कि लड़ने की तो बात ही क्या है, बालि तो डर के मारे मेरे सामने ही नहीं आया। लेकिन सुग्रीव ने बताया कि—

मयसुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ॥
अर्ध राति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा॥४/५/२-३

बालि सह ही नहीं पाता। बालि को कोई चुनौती दे और वह उस चुनौती के सामने अपने को झुका दे? उसने मायावी का पीछा किया।

इस प्रसङ्ग पर यदि आप आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो पाएँगे कि इसमें एक महत्त्व का सूत्र है। यह जो मय दानव है, वह बड़ा चमत्कारी था, नगर-रचना में बड़ा कुशल था। इसी मायावी दानव के सम्बन्ध में जब किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि महाराज, मय दानव ने चार सौ कोस की सोने की लङ्का बना डाली, यह तो असम्भव लगता है तो गोस्वामीजी ने कहा कि वह मय दानव तो आपके पास भी है और वह वही करता रहता है जो मय दानव ने किया। जिस दानव ने इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के लिए सभाभवन का निर्माण किया तो वह भी मय दानव था। तो जो लोग बहुत स्थूल दृष्टि से पढ़ते हैं, उन्हें लगता है कि यह क्या बकवास है। अब वह रावण के समय में था और युधिष्ठिर के समय में भी था। यह क्या बेकार बात है? यह तो अनादि से अनन्त काल तक रहता है। पर यह जो मय दानव है, वह तो शाश्वत है, सदा है और जब यह पढ़ते हैं कि रावण की सभा भी उसी ने बनाई और युधिष्ठिर की सभा भी उसी ने बनाई तो इसका अर्थ है कि हमारा मन पाप-कल्पना में लग जाए तो उसको भी एक रूप दे देगा। और धर्म के सन्दर्भ में भी—'मनेव यो मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो।' मन में ऊँचे-से-ऊँचे विचार आ सकते हैं, बुरे-से-बुरे विचार आ सकते हैं। मानो यह जो मय है, यही व्यक्ति का मन है और मायावी इसका बेटा है—'मयसुत मायावी तेहि नाऊँ।'

यह मायावी कौन है? हमारे मन में जन्म लेनेवाले दुर्विचार हैं, सङ्कल्प हैं, उसी का नाम मायावी है। और मन में जो यह मायावी दिखाई देता है, मन में जब अच्छी बातें आती हैं तब उसे पूरा करने में भले ही हम सफल न हों, पर बुरे विचार आते ही उसे तत्काल पूरा कर देते हैं। तो यह जो मन का सङ्कल्प है, यही मायावी है। और वह चुनौती देता है अर्द्धरात्रि के समय। साधक को यदि बुराइयों की ओर से, दुर्गुणों की ओर से चुनौती मिले तो उसे

क्या करना चाहिए? क्या उसे प्रत्येक बुराई की चुनौती को स्वीकार करके उससे लड़ना चाहिए? क्या अपनी वीरता दिखाने के लिए कि हम कितने सामर्थ्यशील हैं? और यदि बुराई सामने है, तो हम उससे लड़कर दिखा देंगे तब तो जीवनभर यह दृश्य चलता रहेगा, कभी भी इससे छुटकारा नहीं मिलेगा।

हमारे प्रसिद्ध सन्त श्री उड़िया बाबाजी महाराज कहा करते थे कि गाँव के जो कुत्ते होते हैं उनका एक विचित्र स्वभाव देखेंगे। गाँव के कुत्ते कभी-कभी, उनके मन में भी मौज आ जाती है किसी और स्थान में जाने की। और जब वे दूसरे मुहल्ले में जाते हैं तो वह तो वहाँ के कुत्तों का मुहल्ला होता है। वहीं से झगड़ा शुरू होता है। दूसरे मुहल्ले का कुत्ता आया तो उस मुहल्ले के सारे कुत्ते उसे भौंकने लगे। बाबा कहा करते थे कि यदि वह हर भौंकनेवाले कुत्ते से उलझ जाए तो वहाँ से कभी नहीं निकल पाएगा। तो उन्होंने कहा कि साधक को तो बस उसी कुत्ते की तरह पूँछ दबाकर भागना चाहिए, उसको अपनी वीरता दिखाने के लिए लड़ने की आवश्यकता नहीं है। उस अकेले कुत्ते पर दस-बीस कुत्ते मिलकर आक्रमण करेंगे तो वह क्या कर लेगा? बाबा कहा करते थे कि साधक स्वयं अपने आपको सिंह न समझकर यदि अपने को श्वान के रूप में देखे और पूँछ दबाकर भाग सके तो बुराई से बच सकता है। यह बहुत बड़े अनुभव की बात है। उनका जीवन तो साधना का भण्डार था और उन्होंने जो बात कही वह बड़े महत्त्व की है।

साधक यदि यह निर्णय कर ले कि हम काम के विजेता हैं, यह दिखलाने के लिए नग्न स्त्रियों के बीच में बैठ जाए, तब तो उसका सर्वनाश ही हो जाएगा। मानो वह यह चेष्टा करने लगे तो साधक का विनाश होगा। तो वस्तुत: बुराइयों से लड़ना आवश्यक हो जाए तो लड़ना भी पड़ता है, अनिवार्य भी हो सकता है। लेकिन कभी ऐसा भी बुद्धिमान् व्यक्ति होता है कि जो समझ लेता है कि उचित यही है कि अपने आपको उस बुराई से दूर कर लो। व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या यही है। वह इतना अभिमानी है कि कभी कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई मुझे चुनौती दे और मैं नाहीं कर दूँ। और यह मायावी सचमुच मायावी है। जब—

अर्ध राति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा॥

और जब बालि निकलकर बाहर आया तो वह घबरा गया। उसे तो यह कल्पना भी नहीं थी कि बन्दर रात में भी बाहर आ सकता है—'देखि सो भागा।' और तब ये जो दो भाई हैं और दोनों में अनोखा अन्तर है। बालि जितना ही वीर है, सुग्रीव उतना ही दुर्बल। साधारणतया उसे दुर्बल नहीं कह सकते, पर उसमें वैसी वीरता नहीं थी जैसी बालि में थी। लेकिन नकल करने की भी आदत होती है साधकों में। बालि जा रहा था तो वह भी पीछे लग गया। क्यों? बोले, कोई यह न समझ ले कि मैंने सङ्कट के समय भाई का साथ छोड़ दिया। इसलिए उसने बालि का अनुगमन किया और बालि को देखकर भागता हुआ मायावी एक गुफा में प्रविष्ट हो गया।

यह हमारे मन की जो वासनाएँ हैं वे कभी-कभी दुर्गुण के रूप में प्रत्यक्ष होती हैं। कभी ये दुर्गुण अन्तर्गुफा में प्रविष्ट हो जाते हैं। तब बालि भी उस गुफा में पैठने लगा और सुग्रीव से उसने यही कहा, तुम यहीं पर रहो, तुम्हें भीतर आने की आवश्यकता नहीं है। मैं उसे पन्द्रह दिन में परास्त कर लूँगा। और यदि पन्द्रह दिन बाद भी मैं न लौटा तो समझ लेना कि मेरी मृत्यु हो गई। किन्तु उस गुफा में मायावी के साथ अनेक दैत्य छिपे हुए थे और बालि से उनका युद्ध चलता है। और मन के सङ्कल्प-विकल्पों से सङ्घर्ष तो बड़ा लम्बा खिंचता है। सुग्रीव ने कहा कि वह पन्द्रह दिन के स्थान पर एक महीने तक प्रतीक्षा करता रहा और जब मैंने देखा कि गुफा से रक्त की धारा बह रही है तो मैं डर गया। क्योंकि मुझे लगा कि यह रक्त मेरे भाई बालि का है। और जब मायावी ने मेरे भाई का वध कर दिया तो फिर मैं तो क्या लड़ूँगा? इसलिए यहाँ से भागो। बालि इतना अधिक वीर है कि वह भागता ही नहीं है और इसके विपरीत सुग्रीव इतने भगोड़े हैं कि जब देखो तब भागने की बात करते हैं। पलायनवादी होना चाहिए कि वीर होना चाहिए? दोनों बातें समय पर सही और गलत दोनों ही हो सकती हैं।

सुग्रीव लौटकर महल में आए और घोषणा कर दी कि मायावी ने बालि को मार दिया। लोगों ने कहा कि राजा तो होना ही चाहिए। और तब उन्होंने सुग्रीव से अनुरोध किया और सुग्रीव सिंहासन पर बैठ गए। यह सुग्रीव के चरित्र की दूसरी दुर्बलता थी और दूसरी दुर्बलता का तात्पर्य यही है कि वे कह सकते थे कि बालि हमारे बड़े भ्राता थे और उनका पुत्र अंगद है। तो परम्परया राज्य तो अंगद को मिलना चाहिए, पर जब सत्ता का प्रलोभन आता

है तो उससे निकल पाना बड़ा कठिन है और सुग्रीव राज्य स्वीकार कर लेते हैं। दूसरी ओर बालि मायावी और उसके साथियों का वध करने में सफल होता है। किष्किन्धा पहुँचकर उसने ज्यों ही देखा कि अरे, मेरे सिंहासन पर सुग्रीव बैठ गया? बस—

देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा।

भेद-बुद्धि का उदय हुआ। यह स्वाभाविक भी है। जहाँ अभिमान होगा वहाँ द्वैत अवश्य होगा, क्योंकि द्वैत के बिना अभिमान की पुष्टि नहीं होती। द्वैत अभिमान का स्वाभाविक परिणाम है, फल है। अब आप कल्पना कीजिए की यदि अंगद सिंहासन पर बैठे हुए मिल जाते तो बालि को बुरा थोड़े ही लगता? उसको लगता, जब उन्हें कह दिया जाता कि आपकी मृत्यु की कल्पना से आपके पुत्र को राज्य दे दिया गया तो उसको लगता कि ठीक है, लगता है कि उनको भ्रम हो गया। लेकिन बालि ने यह तर्क दिया कि इसने बहाना किया। क्यों? सुग्रीव ने यह गणित कर लिया कि अब मायावी निकलेगा तो मुझे मारेगा तो कोई बचाव का उपाय तो करें। फलस्वरूप उसने एक बहुत बड़े पर्वतखण्ड को लाकर उस गुफा के मुँह पर रख दिया कि जब तक इस पर्वतखण्ड को हटाकर निकलने की चेष्टा करता रहे तब तक हम भागकर अपने नगर में छिप जाएँ। तो बालि भी जब निकलने लगा तो उस पर्वत को तो ढकेलना ही पड़ा। उसे लगा कि सुग्रीव ने योजनापूर्वक पत्थर लगा दिया कि मैं निकल न पाऊँ। तब आप जानते हैं कि वह विद्वेष सुग्रीव का सब कुछ छीन लेता है।

सुग्रीव भागता है तो बालि उसका पीछा करता है। सुग्रीव सर्वत्र भागते फिरे और अन्त में वे जाकर ऋष्यमूक पर्वत पर अपने को स्थापित करते हैं, क्योंकि बालि को श्राप है कि बालि वहाँ नही आ सकता। सभी कथाएँ बड़े महत्त्व की हैं। यह श्राप बालि को क्यों मिला? बालि ने दुन्दुभी नामक राक्षस को भी मारा, वह राक्षसों को तो मारता ही रहता था। तो मारकर फिर वही दिखावे वाली बात। रावण को तो बगल में दबाया, लेकिन दुन्दुभी राक्षस को मारने के बाद उसने सोचा, कैसे प्रदर्शन हो, तो ऋष्यमूक पर्वत पर ऋषि-मुनियों का आश्रम था, वहाँ उठाकर फेंक दिया कि मुनि लोग भी देखें कि बालि कितना बड़ा योद्धा है। पर मुनियों को यह असह्य लगा कि यह व्यक्ति प्रदर्शन कर रहा है? चारों ओर रक्त फैला दिया, अपवित्र कर दिया

आश्रम को। तब उन्होंने श्राप दिया कि इस दुन्दुभी राक्षस के शव को जिसने यहाँ फेंका है, वह यदि यहाँ प्रवेश करेगा तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। जहाँ ऋषि-मुनि निवास करते हैं, वहाँ अभिमानी का प्रवेश निषिद्ध है। इसलिए सुग्रीव वहाँ स्थित हो जाते हैं।

यदि आप रामायण और महाभारत की तुलनात्मक विवेचना करें तो आपको वहाँ भी ये दो व्यक्ति दिखाई देंगे। सूर्य के अंश से कर्ण का जन्म हुआ और इन्द्र के अंश से अर्जुन का। पर त्रेता युग में भगवान् राम ने सूर्यपुत्र सुग्रीव का पक्ष लिया और द्वापर में भगवान् कृष्ण ने इन्द्रपुत्र अर्जुन का पक्ष लेते हुए सूर्यपुत्र कर्ण के वध कराने का उपाय किया। त्रेता युग में भगवान् राम ने सूर्यपुत्र सुग्रीव की रक्षा की और इन्द्रपुत्र बालि पर स्वयं बाण चलाया। क्या यह युग बदलने से क्रम बदल गया? यहाँ भगवान् ने सूर्य के पुत्र की रक्षा की और वहाँ इन्द्र के पुत्र की रक्षा की। एक सज्जन ने कहा भगवान् ने हिसाब-किताब बराबर कर दिया। यह क्या बात हुई? एक बार किसी का साथ दिया दूसरी बार दूसरे का साथ दिया। उसमें अन्तर यही है कि द्वापर मैं इन्द्रपुत्र अर्जुन नम्र है और सूर्यपुत्र कर्ण गुणवान् होते हुए भी अभिमानी है। दूसरी ओर त्रेता युग में सूर्यपुत्र सुग्रीव नम्र है और इन्द्रपुत्र बालि अभिमानी है।

सूत्र क्या है? भगवान् किसका साथ देते हैं? जिसमें अभिमान का अभाव है। 'मैं' रहित व्यक्ति ही भगवान् की कृपा पाने में सक्षम है। इसलिए दोनों में भगवान् की भूमिका यही है कि—'बेद पुरान बखानि कहँ गुमान गोबिन्दहि भावत नाहीं।' प्रभु को अभिमान प्रिय नहीं लगता। अभिमान को नष्ट कर देना उनका स्वभाव है। तब आप सूत्र पाते हैं कि एक ओर बालि का जीवन है जो अनेक उत्कृष्ट वीरता के कार्य करता हुआ भी रावण, मायावी, दुन्दुभी तथा अन्य राक्षसों को हराने पर अभिमान में उन्मत्त हो रहा है। दूसरी ओर सुग्रीव में दुर्बलता है, उसके चरित्र में पलायन है, वीरता का अभाव है, पर उसमें प्रतीक्षा की वृत्ति तो है ही। पिछले व्याख्यान में यह बात आई थी कि कृपा के लिए तो प्रतीक्षा करनी पड़ती है। आप यह नहीं कह सकते कि अब आज ही मुझ पर कृपा हो जाए। कब होगी, कहाँ होगी, किस रूप में होगी इसे कौन बता सकता है?

आप पढ़ते हैं, हनुमान्जी साथ में हैं और तब वह समय आ जाता है,

वह स्थिति आ जाती है, वह दृश्य आ जाता है कि जब भगवान् श्रीरामभद्र और उनके प्रिय अनुज श्री लक्ष्मण दूर से आते हुए दिखाई देते हैं। सुग्रीव आतङ्कित है, भयभीत है। उसे यही लगा कि बालि ने कहीं हमें मारने के लिए ही तो इन दोनों योद्धाओं को नहीं भेजा है? सुग्रीव यदि केवल अपनी आँख पर भरोसा करते तब तो वहाँ से भाग खड़े होते, पर उन्हें लगा कि हमारे सबसे सही मार्गदर्शक तो हनुमान्जी ही हैं। हनुमानजी से उन्होंने कहा कि आप ब्राह्मण का वेश बनाकर जाइए और पता लगाइए कि कहीं ये बालि के भेजे हुए तो नहीं हैं? और कितनी बड़ी दुर्बलता है? उन्होंने कहा, देखने के बाद वहीं से सङ्केत करना, आकर के मत बताना।

कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई।

क्यों? बोले, आप बताने जाओ और पीछे-पीछे वे भी आ गए तब तो हम मारे जाएँगे। इसलिए आप वहीं से इशारा कर देना, मैं समझ जाऊँगा। तो महाराज, सङ्केत पाकर आप क्या करेंगे? बोले, अपने पास तो एक ही कला है, भागने की—

पठए बालि होहिं मन मैला।
भागौं तुरत तजौं यह सैला।।४/०/५

लेकिन कभी-कभी यदि सन्त का आश्रय प्राप्त हो जाए तो हमारी दुर्बलता भी भगवत्प्राप्ति में सहायक बन सकती है और यही हनुमान्जी की महिमा है। हनुमान्जी के चरित्र में हम यदि साधना, पुरुषार्थ, कृपा सबका समग्र रूप एक साथ देखना चाहें तो सहज ही देख सकते हैं। और हम देखते हैं कि सचमुच हनुमान्जी का प्रभु से मिलन होता है। हनुमान्जी ने जब प्रभु से सुग्रीव को मिलाया तो साधना के मार्ग से नहीं, कृपा के मार्ग से मिलाया।

देख लिया। प्रभु ने हृदय से लगा लिया। कह सकते थे कि सयन बुझाने के लिए, सङ्केत कर देते सुग्रीव को कि आओ, आओ, स्वागत करो। लेकिन हनुमान्जी ने प्रभु से यही कहा—

नाथ सैल पर कपिपति रहई।
सो सुग्रीव दास तव अहई।।
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।
दीन जानि तेहि अभय करीजे।।४/३/२-३

महाराज, सुग्रीव यहाँ पर्वत पर रहते हैं, आप चलकर उनसे मित्रता कीजिए।

कितनी मीठी बात है। मानो साधन माने चलकर आना। तो कहा जा सकता है कि हनुमान्‌जी कह क्यों नहीं देते कि आ जाओ। पर धन्य हैं हनुमान्‌जी, पुरुषार्थ के पुञ्ज होते हुए भी कि उन्हें कृपा की प्रतीति पर इतनी आस्था है कि उन्होंने प्रभु से यही सङ्केत किया कि प्रभु, जब आप जीव पर कृपा करने के लिए अयोध्या से यहाँ तक आ गए तो अब इतनी दूर भी क्यों चलाते हैं जीव को। यह भी आप ही पूरा कर दीजिए। मानो जितना जानते हैं, जितना कुछ कह रहे हैं कि जीवों पर कृपा करने के लिए ही आपने यह अभिनय रचा है। आप चल करके सुग्रीव से मित्रता कीजिए। और बीच में मार्ग कितना सुन्दर बनाया? कि आप भी कष्ट न करें। सुग्रीव बेचारा तो भागते-भागते थक गया है। कि अब वह यहाँ तक चलकर आने में भी समर्थ नहीं हैं। रोगी यदि समर्थ हो तो डॉक्टर, वैद्य के पास जाए और रोगी यदि खाट से न उठ सके तब तो वैद्यजी को ही वहाँ ले जाया जाएगा। महाराज! आप ही पधारें। आप देखते हैं कि हनुमान्‌जी अपनी पीठ पर प्रभु को, लक्ष्मणजी को बैठाकर सुग्रीव से मिला देते हैं। कृपा के मार्ग से हनुमान्‌जी ने परम पुरुषार्थ स्वरूप होते हुए भी दर्शन कराया, मित्रता करा दी।

संक्षेप में सूत्र इतना ही है कि यह जो सुग्रीव का चरित्र है, जिसमें कृपा की इतनी बड़ी महिमा सामने आती है। भगवान् स्वयं आते हैं। वहाँ पर कृपा का दुरुपयोग सुग्रीव के चरित्र में है और साधना, सत्कर्म और पुण्य का दुरुपयोग बालि के जीवन में है। प्रभु की यह महती कृपा है कि उन्होंने दोनों के संस्कार को मिटाने के लिए कैसी अनोखी लीला की। रावण के ऊपर प्रभु ने बाण बाद में चलाया, बालि के ऊपर पहले चलाया। भगवान् कहते हैं कि पाप के नाश से भी अधिक आवश्यक है साधक के जीवन का जो पुण्याभिमान है, वह नष्ट हो जाए। वह एक लम्बा प्रसङ्ग है। बस उसमें सूत्र यही है और बालि की सारी समस्या का मूल भी यही है, उसका केन्द्रबिन्दु यही है। भगवान् राम ने सुग्रीव से यही कहा कि—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।

मैं एक बाण से बालि का वध करूँगा—

ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥४/६

और उसके बाद जब प्रभु ने कहा—सुग्रीव, चलो, चलकर थोड़ी गर्जना करो, बालि को चुनौती दो, तो सुग्रीव घबरा गए। बोले, प्रभु, बालि को मारेगा

कौन? मैं मारूँगा। और लड़ेगा कौन? बोले, लड़ोगे तुम और मारूँगा मैं। यदि यही साधक समझ ले, तो यह सूत्र है। तुम लड़ो तो, तुम प्रयत्न तो करो, तुम पुरुषार्थ तो करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। पर यह नहीं कि महाराज, आपने प्रतिज्ञा की है, तो आप लड़िए और मारिए। हमको काहे को झंझट में डाल रहे हैं। बस यहाँ पर प्रभु ने भेज दिया।

सुग्रीव की गर्जना जब बालि ने सुनी तो उसका तो वही अभिमान। बस निकलने लगा, तब तारा ने पकड़ लिया। बोलीं, पतिदेव! किसकी गर्जना है? बोले, क्या सुग्रीव के स्वर पहचानने में मुझे कोई कठिनाई हो सकती है? जो सुग्रीव डर के मारे भागता फिरा, यदि वह गरजता हुआ दिखाई दे तो उस गर्जना के पीछे किसका बल है? इस पर तो ध्यान दीजिए। और तब उसके अभिमान की कला दिखाई दी। दो तरह के अभिमानी होते हैं। कुछ लोग दूसरों की बात तुरन्त काट देते हैं कि यह बिल्कुल ठीक नहीं है, पर कुछ लोग सोचते हैं कि ऐसा कहने से तो बुरा लगेगा। तो यदि किसी ने कोई ऊँची बात कही तो काटने के स्थान पर उससे और ऊँची बात बता देते हैं कि अरे, तुम मुझे क्या सुना रहे हो। हम तुमसे ज्यादा अच्छे-से जानते हैं। तो रावण जो है वह तो सीधे काटने में विश्वास करता है। मन्दोदरी ने समझाया तो कह दिया, तुम तो अत्यन्त डरपोक हो और—'नारि सुभाव सत्य कवि कहई।'

बालि ने तुरन्त कहा कि तारा, किसका स्वर है? तुम्हें क्या लगता है? किसी बलवान् का आश्रय लिया होगा। बालि ने कहा, बलवान् नहीं वह तो ईश्वर है। उसने कहा कि तुम उसे बलवान् बताकर मुझे डराना चाहती हो? मैं जानता हूँ कि वह ईश्वर है। तारा ने कहा कि महाराज मैं जितना जानती थी उतने से ही आपको रोका और आप जानते हैं, फिर भी दुःसाहस कर रहे हैं। वही ऊँची भाषा, तुरन्त कहा, अरे! तुम इतनी डरपोक हो कि तुम्हें यह भी नहीं पता कि ईश्वर का क्या लक्षण है? ईश्वर तो सम है। उसने कहा—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।

भगवान् तो समदर्शी हैं। मुझमें और सुग्रीव में वे भेद कैसे करेंगे? तुम मनुष्य मानकर उन्हें बलवान् कह रही हो? नहीं, वह ईश्वर है। मुँह देखने लगी तारा, तो तारा ने कहा कि महाराज, उन्होंने जब सुग्रीव को मित्र बनाया है तो उन्होंने कोई-न-कोई तो निर्णय किया है। तो, अच्छा, चलो, मुझे मार देंगे तो चिन्ता क्या है?

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ।।४/७

मेरा वध करेंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा। कितनी ऊँची भावना है। भगवान् मारेंगे इसमें चिन्ता की क्या बात है। उससे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा।

हम लोग जितनी सरलता से बालि के विषय में भ्रम में पड़ेंगे वैसे तुलसीदास नहीं पड़े। उनसे पूछा गया कि, बालि ने दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया—ज्ञान की भाषा और भक्ति की भाषा। तो ये ज्ञानी हैं कि भक्त हैं? गोस्वामीजी ने कहा न ज्ञानी है, न भक्त है। भाषा बोल देने से कोई ज्ञानी और भक्त थोड़े ही हो जाता है। वह प्रसङ्ग बड़ा विस्तृत है, इतना ही है कि भगवान् ने प्रहार किया और बालि के सामने गए। तब बालि ने पूछा तो भगवान् ने यही आरोप लगाया कि तुम्हारी समस्या है—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।

....

मम भुजबल आश्रित तेहि जानी।

मानो भगवान् पहले बालि पर प्रहार करते हैं और जब बालि का अभिमान नष्ट हो गया, समर्पण और नम्रता की बात आई तो भगवान् कहते हैं, तुम जीवित रहो। मानो भगवान् कहते हैं कि हमें पुण्याभिमान मारना है, कोई पुण्य को मारने की अपेक्षा थोड़े ही है। बालि को मारना अपेक्षित नहीं है। मानो जहाँ पर, साधक में अपनी विशेषता, अपने पुरुषार्थ का अभिमान है, उस पर बाण चलता है और वह अभिमान नष्ट होकर ही बालि धन्य हो जाता है और भगवान के धाम में जाता है। तो मानो बालि का जो अभिमान था वही उसका अवगुण था और सुग्रीव?

ये सुग्रीव बेचारे तो ऐसे अनोखे हैं कि गए और भगवान् से बड़ी ऊँची भाषा बोले थे कि शत्रु-मित्र मिथ्या है, पर बालि का मुक्का लगते ही आकर भगवान् को उलाहना देने लगे। आपने तो कहा था कि बालि को एक ही बाण से मारेंगे और मैं पिटता रहा। भगवान् ने कहा कि पहचान नहीं पाया। बड़ा मीठा सङ्केत था और उसके पश्चात् भगवान् ने छू दिया, कृपा कर दी—

कर परसा सुग्रीव सरीरा।
तनु भा कुलिस गई सब पीरा ।।४/७/६

दर्द मिट गया। भगवान् ने कहा एक बार और लड़ो। अब दूसरी बात आई

सुग्रीव के मन में, कि अब भगवान् शरीर छूकर दर्द दूर कर चुके और भगवान् ने कहा कि मैं बल भी दे दूँगा और बल दे दूँगा तो जाकर लड़ो। तैयार हो गए। सोचने लगे, कम-से-कम प्रभु का बल लेकर हम लड़ेंगे, बालि को हराएँगे, पर अन्त में तो यही माना जाएगा कि अन्तिम युद्ध में सुग्रीव जीता। लेकिन गणित गड़बड़ा गया। जब लड़ने पहुँचा तो सोचा कि केवल भगवान् के बल से काम कैसे चलेगा? तो उसने एक वस्तु और जोड़ दी। बोले, थोड़ा भगवान् का बल और थोड़ा अपना छल—दोनों मिला दें, जो जबलपुर के नवयुवक विद्यार्थी की तरह बिना पढ़े एम. ए. में प्रथम श्रेणी में पास हुआ। मैंने पूछा, बिना पढ़े कैसे पास हो गए? बोले, इसका तो सरल-सा उपाय है। क्या? बोले, अकल, धन और नकल बराबर सफल। भई, कुछ अकल लगाया, नकल कर लिया, हो गए सफल। तो उसने यह मान लिया कि भगवान् का बल और अपना छल, पर उनको पता नहीं था कि भगवान् का बल और छल, दोनों जुड़ नहीं सकते हैं। वह जो छल है वह तो उलटा गणित हो गया।

जब बालि ने सुग्रीव को मारा तो पूरी तरह से डर के मारे पुकार उठा—हे प्रभु, मैंने बड़ा व्यर्थ का झमेला ले लिया। कृपा करो, मैं तो मरा—

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि।
मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि ।।४/८

सुग्रीव की रक्षा हुई। बालि का अभिमान छूट गया। बालि को भी भगवान् का धाम मिल गया, पर कृपा का दुरुपयोग—वह एक सुदीर्घ प्रसङ्ग है।

सुग्रीव ने भगवान् से कहा था—सीताजी का पता भी लगाना है। पर भगवान् बड़े कोमल हैं, बड़े कृपालु हैं। सुग्रीव ने सोचा कि यह तो उन्होंने कहा नहीं है कि कितने दिन में पता लगाना है तो देखेंगे। यही है कृपा का दुरुपयोग। भगवान् ने कलङ्क लेकर, अपयश लेकर सुग्रीव को राज्य दिया पर सुग्रीव विषय-भोग में भूल गए और तब प्रभु को लगा कि नहीं, नहीं, यह तो मेरी कृपा का अर्थ ही दूसरा ले रहा है। तब प्रभु ने कहा कि लक्ष्मण—

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ।।४/१७/५

जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी बाण से मैं कल इस मूर्ख

सुग्रीव का वध करूँगा। अब तो लक्ष्मणजी को लगा कि यह कार्य प्रभु के द्वारा न होकर मेरे द्वारा हो तो अच्छा। प्रभु क्रोध में दिखाई दे रहे हैं, प्रभु सुग्रीव को मारने के लिए कह रहे हैं। लगा, भगवान् दण्ड देने के लिए व्यग्र हैं। और जब लक्ष्मणजी ने कहा कि आप क्यों कष्ट करेंगे, मैं जाकर मार देता हूँ। आपने जिसके लिए इतना किया वह यदि इतना कृतघ्न है तो उसको मार देना ही ठीक है। तो प्रभु तो भीतर से कृपा के पुञ्ज हैं, बाहर से केवल नाटक कर रहे हैं।

प्रभु ने लक्ष्मणजी से कहा कि क्या तुम समझते हो कि मैं सचमुच मार डालूँगा सुग्रीव को? बालि को भी कहाँ मारा था, उसको भी तो छोड़ने के लिए तैयार था। प्रभु ने कहा, सुग्रीव डर के मारे मेरी शरण में आया है, डरपोक है। बालि मर गया तो इसका डर भी छूट गया है। तो इसका मरना तो यही है कि जाकर इसको फिर डरा दो। प्रभु जानते हैं कि इसका कल्याण कैसे होगा। लक्ष्मणजी ने कहा, जो आज्ञा। जब लक्ष्मणजी जाने लगे तो प्रभु को डर लगा। बोले—लक्ष्मण! अब मुझे डर लग रहा है। आपको किससे डर है? तुमने जब कहा कि मैं जा रहा हूँ तो मुझे यह डर लग रहा है कि तुम तो जानते ही हो कि सुग्रीव जितना डरपोक है, उतना ही भगोड़ा है। तो कहीं ऐसे नहीं डराना कि वह कहीं भाग जाए। ऐसे डराना कि इधर ही आवे—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥४/१८

सूत्र यही है कि भगवान् तो कृपामय हैं। पर वे कभी-कभी जीव को अपनी शरण में बुलाने के लिए दण्ड का नाटक करते हैं। पर विचित्र है जीव का स्वभाव। सुग्रीव आए लेकिन हनुमान्‌जी और लक्ष्मणजी उन्हें साथ लेकर आए। आने पर सुग्रीव ने सफाई क्या दी? यह नहीं कि भूल हो गई। उन्होंने भगवान् से यही कहा—

नारि नयन सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।
सो नर तुम्ह समान रघुराया॥४/२०/४-५

प्रभु, जो काम, क्रोध, लोभ को जीत ले वह तो आपके समान है। तो भगवान् के मित्र हैं तो भगवान् के समान तो होना ही चाहिए। जीव है भी

भगवान् का मित्र। लेकिन वाह रे सुग्रीव! सुग्रीव कहने लगे कि मैं क्या करूँ। क्या? बोले मैं भी चाहता था कि मैं आपकी तरह बनूँ, पर—

यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥४/२०/६

यह तो आपकी कृपा से होता है।

एक कृपावादी है, एक पुरुषार्थवादी। भगवान् तो उदार हैं, हँसने लगे। मानो इसका अभिप्राय यह है कि हमें जीवन में कृपा के नाम पर यह सन्तोष नहीं कर लेना है कि जो कुछ होगा वह कृपा से होगा। और हम अपने जीवन में थोड़े-से सद्‌गुणों के द्वारा यह भ्रम न पाल लें कि हम बुराइयों को निःशेष कर सकते हैं। इसलिए श्री हनुमान्‌जी के समान जिसके जीवन में साधना और कृपा दोनों की पराकाष्ठा है और मुझे विश्वास है, वे ही हमारे आराध्य हैं। और कृपा तो अनन्त है। इसी को भगवान् की कृपा मान लीजिए चाहे इच्छा मान लीजिए, जो भी है, प्रभु ने जैसा कहलवाया वैसा कहा गया। आप लोगों के प्रति मेरा बार-बार अभिनन्दन है।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल॥

॥ बोलिए सियावर रामचन्द्र की जय॥